मणिपुरी रंगमंच के विकास में हिन्दी से अनूदित नाटकों की भूमिका

Manipuri Rangmanch Ke Vikas Men Hindi Se Anudit Natkon Ki Bhumika

(Role of Translated Plays of Hindi in the Development of Manipuri Theatre)

पीएच. डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध

शोध निर्देशक

डॉ. गंगा सहाय मीणा

शोधार्थी

क्षे. धन की रानी

भारतीय भाषा केन्द्र

भाषा, साहित्य और संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली-110067

2017

जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
भारतीय भाषा केन्द्र
Centre of Indian Language
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
School of Language, Literature & Culture Studies
नई दिल्ली-११००६७, भारत NEW DELHI-110067, INDIA

Dated : 26/7/2017

DECLARATION

I hereby declare that the research work done in this Ph.D. Thesis entitled **"Manipuri Rangmanch Ke Vikas Men Hindi Se Anudit Natkon Ki Bhumika" (Role of Translated Plays of Hindi in the Development of Manipuri Theatre)** by me is the original research work and it has not been previously submitted for any other degree in this or any other university or institution.

26/7/2017
Ksh. Dhan Ki Rani
(Research Scholar)

26.7.17
Dr. Ganga Sahay Meena
(Supervisor)
CIL/SLL&CS/JNU

Prof. Gobind Prasad
(Chairperson)
CIL/SLL&CS/JNU

आभार

व्यावहारिक तौर पर कोई भी शुभ कार्य बड़ों के आशीर्वाद एवं परिजनों के सहयोग से ही सम्पन्न होता है। प्रस्तुत शोध कार्य को पूरा करने में यह आशीर्वाद और सहयोग मुझे पर्याप्त काम आया। इस क्रम में शोध निर्देशक डॉ. गंगा सहाय मीणा से मिले मार्गदर्शन के लिए मैं आभारी हूँ। उनके समर्थन, सहयोग और प्रेरणा के बिना यह शोधकार्य सम्पन्न नहीं होता।

मेरे पूर्व निर्देशक डॉ. रमण प्रसाद सिन्हा ने शोध का विषय एवं प्रारूप तय करने में मेरी सहायता की। मैं उनके प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ।

एम. ए. की पढ़ाई के समय से ही निरन्तर सहयोगशील गुरुवर डॉ. देवराज (महात्मा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा) ने इस प्रबन्ध को सम्पन्न करने में अपना अक्षय स्नेह दिया है। उनके प्रति कृतज्ञ होना मैं अपना धर्म समझती हूँ।

मैं 'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' के अध्यक्ष श्री रतन थियाम, थवाई थियाम और मणिपुर की महिला रंगकर्मी मैडम थानिनलैमा का शुक्रिया अदा करना चाहूँगी कि उन्होंने अपना बहुमूल्य समय निकालकर मणिपुरी रंगमंच के विषय में जानकारी प्रदान की।

इस शोध कार्य को पूरा करने में अपने माता-पिता एवं अन्य परिजनों, मित्रों (सुनीता, नीलू), शुभचिन्तकों का भरपूर सहयोग मिला है। इनके अनासक्त सहयोग से जो प्रेरणा मिली, उसके लिए आभार शब्द छोटा प्रतीत होता है। इनके प्रति कृतज्ञ होना इनके अवदान का अपमान होगा। किन्तु मैं नतशिर हूँ। मेरे सीनियर दा रजनीश और 'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' के दा जयन्त के लिए मेरे पास धन्यवाद के शब्द नहीं हैं।

इस प्रबन्ध को पूरा करने में जे. एन. यू., राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, मणिपुर विश्वविद्यालय, नटरंग प्रतिष्ठान, मणिपुर साहित्य परिषद, मणिपुर हिन्दी परिषद के पुस्तकालय का भरपूर उपयोग हुआ है। इन पुस्तकालयों के अधिकारियों के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ।

भारतीय भाषा केन्द्र, जे. एन. यू. के सभी अध्यापकों ने बौद्धिक रूप से और सभी कार्यालयीय सदस्यों ने प्रशासनिक रूप से, शोध के दौरान जो सहयोग दिया, वह मेरे लिए सदैव स्मरणीय रहेगा। मैं इनके सद्भाव के लिए नतमस्तक हूँ। मैं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का भी आभार व्यक्त करती हूँ कि शोध कार्य हेतु मुझे निरन्तर छात्रवृत्ति प्रदान की गयी। अन्त में मैं टंकक श्री सुधीर झा जी का हृदय से धन्यवाद करती हूँ जिन्होंने समयानुसार इस शोध को आद्यन्त टंकित करने में मेरी सहायता की।

- क्षे. धन की रानी

विषय सूची

विषय	पृष्ठ संख्या
भूमिका	001
अध्याय - 1 मणिपुरी रंगमंच का इतिहास	005
अध्याय - 2 मणिपुरी रंगमंच का नाट्यालेख	059
अध्याय - 3 मणिपुरी रंगमंच और हिन्दी नाटक	104
अध्याय - 4 मणिपुरी रंगमंच के विकास में हिन्दी से अनूदित नाटकों की भूमिका	166
उपसंहार	201
सन्दर्भ ग्रन्थ सूची	213
परिशिष्ट	223

भूमिका

सच कहूँ तो शुरुआत में मुझे नहीं पता था कि मैं मणिपुरी रंगमंच पर शोध कार्य करूँगी। जब पीएच. डी. के विषय चयन की बात आई तो मेरे मार्गदर्शक डॉ. रमण प्रसाद सिन्हा ने चूंकि मैं मणिपुर से हूँ, मुझसे कहा कि अनुवाद की छात्रा होने के नाते मुझे मणिपुरी साहित्य और अनुवाद पर कार्य करना चाहिए। इसके लिए उन्होंने मुझे मणिपुरी से हिन्दी में अनूदित साहित्यिक रचना की सूची बनाकर लाने को कहा। जब मैं सर के पास सूची लेकर गयी तो उन्होंने कहा कि इन रचनाओं को एक साथ लेकर काम करना काफी लम्बा और अस्त-व्यस्त सा हो जाएगा। उन्होंने मुझे यह सलाह दी कि मुझे मणिपुरी रंगमंच और अनुवाद पर कार्य करना चाहिए। हालांकि मुझे मणिपुरी रंगमंच के विषय में ज्यादा जानकारी नहीं थी परन्तु मुझे लगा कि सर ने कुछ सोचकर ही ऐसा कहा होगा। मैंने मणिपुरी रंगमंच के विषय में पढ़ना शुरु किया और इसके सन्दर्भ में जानकारी इकट्ठा करने में जुट गई।

शुरुआत में तो मैं बिल्कुल परेशान हो गई थी क्योंकि मुझे समझ ही नहीं आ रहा था कि क्या और कैसे करूँ? लेकिन फिर रमण सर ने बताया कि मुझे किस प्रकार काम शुरु करना चाहिए। सर ने बताया कि रंगमंच पर काम करने के लिए रंगमंच को समझना जरुरी है। सर की बात को ध्यान में रखते हुए मैं 'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' गई और वहाँ के छात्रों द्वारा होने वाले मंचन को देखना शुरु किया।

शोध कार्य संबंधी पुस्तक तथा जानकारी प्राप्त करने में मुख्य रूप से जे. एन. यू., राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, मणिपुर विश्वविद्यालय, साहित्य अकादमी, नटरंग प्रतिष्ठान, मणिपुर साहित्य परिषद, मणिपुर हिन्दी परिषद के पुस्तकालय का योगदान रहा। उपलब्ध सामग्रियों को व्यवस्थित करने पर जब विषय निश्चित करने की बात आई तब रमण सर ने विषय सुनिश्चित किया - 'मणिपुरी रंगमंच के विकास में हिन्दी से अनूदित नाटकों की भूमिका'।

मणिपुर के लिए कहा जाता है कि यहाँ साल के बारह महीनों में तेरह उत्सव मनाए जाते हैं। मणिपुर में लोकधर्मी रंगमंच की एक बड़ी सुदृढ़ और सुदीर्घ परम्परा रही है। जनता के मनोरंजन के लिए यहाँ नियमित रूप से नाटक खेले जाते हैं। मणिपुर में अभिनय परम्परा काफी विविध और समृद्ध है। उदाहरण के लिए, धार्मिक अनुष्ठानों के अन्तर्गत आने वाले संकीर्तन और 'लाई-हराओबा' में भी नाटकीय और प्रदर्शन तत्त्व होते हैं। रंगमंच के कई क्षेत्र सह मौजूद हैं - शुमाङ लीला (आंगन नाटक), स्थापित अग्रमंच थिएटर और प्रयोगात्मक

वैकल्पिक थिएटर। अति प्राचीन काल से ही रंगमंच हमेशा लाई-हराओबा पर्व का हिस्सा रहा है।

प्रस्तुत शोध कार्य को चार अध्यायों में विभक्त किया गया है। पहले अध्याय में मणिपुरी रंगमंच के इतिहास की चर्चा की गई है। इसके अन्तर्गत नाटक और रंगमंच के अर्थ तथा इनके आपसी संबंध को बताया गया है। साथ ही मणिपुरी रंगमंच के काल विभाजन को प्रस्तुत किया गया है।

दूसरा अध्याय मणिपुरी रंगमंच के नाट्यालेख पर आधारित है। इसे पुनः दो भागों में विभाजित किया गया है, यथा - प्रारम्भिक दौर और मणिपुरी नाटकों के मंचन की शुरुआत।

तीसरा अध्याय है - 'मणिपुरी रंगमंच और हिन्दी नाटक'। इस अध्याय में हिन्दी रंगमंच के संक्षिप्त इतिहास की चर्चा की गई है तथा हिन्दी के प्रमुख नाटक और मंचन की परम्परा पर भी प्रकाश डाला गया है। साथ ही मणिपुरी के मौलिक नाटक और उनकी परम्परा के विषय में भी बताया गया है।

चौथा अध्याय है - 'मणिपुरी रंगमंच के विकास में हिन्दी से अनूदित नाटकों की भूमिका'। प्रस्तुत अध्याय में चयनित 6 हिन्दी नाटकों को आधार बनाकर अध्ययन किया गया है। सबसे पहले इन नाटकों के कथ्य को प्रस्तुत किया गया है। उसके बाद नाटकों में मणिपुरी समाज एवं संस्कृति की झलक पर बात की गई है। इसके बाद प्रस्तुति का शिल्प, मंचन, इस पर लोक नाट्य परंपरा

का प्रभाव आदि बताते हुए चयनित नाटकों का मणिपुरी नाटक और रंगमंच पर क्या प्रभाव रहा इसकी चर्चा की गई है।

इस शोध कार्य को पूरा करने से पहले मुझे आधी से ज्यादा समस्याओं का अन्दाजा नहीं था। मुझे लगा था कि हिन्दी नाटक और रंगमंच ने मणिपुरी रंगमंच को काफी प्रभावित किया होगा। परन्तु अध्ययन के दौरान मुझे ज्ञात हुआ कि मणिपुरी रंगमंच पर हिन्दी नाटक और रंगमंच का ज्यादा प्रभाव नहीं है। मणिपुरी रंगमंच पर सबसे ज्यादा बांग्ला और पाश्चात्य का प्रभाव देखने को मिलता है। परन्तु दूसरी तरफ ऐसा कहना बिल्कुल गलत नहीं होगा कि मणिपुरी रंगमंच के विकास में 'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

अपने शोध कार्य के माध्यम से मैं खास तौर पर गैर-मणिपुरी समाज के लोगों को मणिपुरी रंगमंच के माध्यम से मणिपुरी समाज और संस्कृति के विषय में बताना चाहती हूँ। इसका अध्ययन करने पर पाठक को मणिपुर की रंगमंचीय परम्परा के विषय में जानकारी मिलने के साथ ही यहाँ की समृद्ध संस्कृति और परम्परा का भी अनुमान हो जाएगा।

नाटक और रंगमंच

मणिपुरी रंगमंच की विस्तारपूर्वक चर्चा करने से पहले नाटक और रंगमंच को समझना भी अति आवश्यक है। नाटक और रंगमंच को समझने के लिए सबसे पहले उसके स्वरूप, उत्पत्ति तथा तत्त्वों को समझना अनिवार्य है। प्रस्तुत अध्याय में नाटक और रंगमंच के विषय में चर्चा की गई है। साथ ही नाटक और रंगमंच का आपस में क्या संबंध है और ये दोनों किस प्रकार एक-दूसरे के बिना अधूरे हैं इस विषय पर भी चर्चा की गई है।

नाटक का स्वरूप

काव्य के दो रूप माने गए हैं - श्रव्य काव्य तथा दृश्य काव्य। श्रव्य काव्य में श्रवणेन्द्रिय का प्रयोग होता है। ये केवल श्रुति के लिए ही होते हैं। दृश्य काव्य का आनन्द उसके अभिनय को देखकर आँखों द्वारा प्राप्त किया जाता है। यद्यपि दृश्य काव्य का सम्बन्ध कानों से भी है परन्तु उसकी सार्थकता दृश्यों को देख सकने वाली चक्षुरिन्द्रिय पर निर्भर है। इसमें नेत्र-पथ से मन तक पहुँचने

वाले दृश्यों से दर्शक के हृदय में रस का संचार होता है। दृश्य काव्य को नाटक कहा जाता है। दृश्य-काव्य में मूल का आरोप होता है अर्थात् अभिनय करने वाले पर दर्शक पात्र-विशेष का आरोप करते हैं, इसलिए इसे रूपक कहते हैं। पाणिनी ने नाट्य की उत्पत्ति 'नट' धातु से मानी है, जिसका अर्थ है सात्विक गुणों का प्रदर्शन।

नाटक की उत्पत्ति

नाटक सामान्यत: 'नट' धातु से उत्पन्न माना जाता है। नाटक के मूल में 'नट' धातु है, जो चुरादिगणीय है। इस 'नट' धातु में 'ण्वुल' प्रत्यय एवं 'अक' आदेश करने से नाटक बनता है। ''नाटक उसे कहते हैं जिसमें आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक अभिनयों द्वारा भावों का प्रदर्शन हो।''[1]

''मानव समाज में मूलत: नाट्य-कला की उत्पत्ति उसी दिन हुई, जिस दिन किसी बालक ने खेल-खेल में अपने में किसी अन्य व्यक्ति की कल्पना की।''[2] नाटक प्रदर्शन प्रधान है, यही कारण है कि इसे दृश्य-काव्य भी कहा जाता है। आचार्य भरत के अनुसार -

'नानाभावोसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्।।'

---

1 झा सीताराम 'श्याम', नाटक और रंगमंच, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्ए पृ.9

2 "Drama could spring from the play of a child who imagines, for the time being, that he ia someone else." (Stuort Donald Clive, The Development of Dramatic Art, 1928, Pincelon University, page 1)

अर्थात् अनेक भावों और अवस्थाओं से युक्त नाटक मुख्यतः लोकवृत्त का अनुकरण ही है। धनञ्जय के अनुसार अवस्था के अनुकरण को ही नाटक कहा जाता है, यथा – 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्'।

भरतकोश के अनुसार जो नटों द्वारा प्रदर्शित हो वही नाटक है, यथा – 'नटैर्यत्प्रदर्श्यते तन्नाट्यम्'। भारतेन्दु के अनुसार नाटक शब्द का अर्थ है 'नट लोगों की क्रिया।'

नाटक दर्शकों को प्रभावित करने वाला एक अद्भुत प्रयोग है जो कि अभिनय के रूप में होता है। इस 'नट' शब्द के कई अर्थ निकलते हैं, जैसे – नाचना, अभिनय करना, अनुकरण करना, अभिनेता आदि। नट् से बना 'नाट्यम्' शब्द जिसके अर्थ हैं – नाचना, अनुकरणात्मक चित्रण, स्वांग भरना, हाव–भाव प्रदर्शन आदि। अब इससे एक और शब्द बनता है 'नाटक' जिसका अर्थ है रचना जिसमें नाट्यधर्मिता हो।

भारतीय नाट्यशास्त्र में नाटक के लिए एक और संज्ञा 'रूपक' का भी प्रयोग मिलता है। जैसा कि धनञ्जय के मतानुसार जीवन की विभिन्न अवस्थाओं की अनुकृति उपस्थित करने वाला यह दृश्यकाव्य 'रूपक' कहलाता है क्योंकि इसमें आरोप होता है। इस बात को स्वीकार कर लेना उचित भी लगता है क्योंकि जिस प्रकार रूपक अलंकार में उपमेय पर उपमान का आरोप किया जाता है ठीक उसी प्रकार दृश्य–काव्य में भी नट–नटी पर नायक–नायिका का आरोप होता है।

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ने नाटक के रचना तथा प्रयोग पक्ष को ध्यान में रखते हुए इसे इस प्रकार परिभाषित किया है – ''किसी प्रसिद्ध या कल्पित कथा

के आधार पर नाट्यकार द्वारा रचित रचना के अनुसार नाट्य-प्रयोक्ता द्वारा सिखाये हुए नट जब दर्शकों के सम्मुख अभिनय, संवाद, संगीत आदि के द्वारा प्रेक्षकों के मन में रस उत्पन्न करके उन्हें तन्मय करते, उनका मनोविनोद करते तथा उस विनोद से उपदेश और मनः शान्ति प्रदान करते हैं, तब वह सम्पूर्ण प्रयोग ही नाटक या रूपक कहलाता है।''[3] नाटक में यदि जीवन का पर्यावसान आनन्दमय होता है, तो सहृदय आनन्दित हो उठता है, यदि शोकमय होता है, तो सहृदय करुणा की भावना से ओत-प्रोत हो जाता है; यदि कोई चुनौती खड़ी कर दी जाती है, तो वह रौद्र रूप ग्रहण कर लेता है; यदि कोई आश्चर्यजनक दृश्य देखने को मिलता है, तो वह विस्मयविमूढ़ प्रतीत होने लगता है। अतः समग्र रूप से हम यह कह सकते हैं कि नाटक में अभिनय के माध्यम से जीवन को अत्यंत प्रभावकारी रूप में दर्शकों के समक्ष उपस्थित किया जाता है।

'बृहत् हिन्दी कोश' के अनुसार नाटक दृश्य काव्य या रूपक के भेदों में से एक है जो प्रथम और सर्वप्रधान है। 'साहित्यदर्पण' के अनुसार इसमें प्रायः 5 से 10 अंक तक होते हैं। इसका आधार कोई प्रसिद्ध घटना या आख्यान होता है और नायक कोई प्रतापी पुरुष, अच्छे प्रसिद्ध कुल में उत्पन्न व्यक्ति या राजर्षि आदि होता है। शृंगार या वीर रस ही इसमें प्रधान होता है।

नाटक की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों के अपने-अपने मत हैं। विद्वानों ने अपनी ओर से नाटक की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक मतों की स्थापना की है।

---

3 झा सीताराम 'श्याम', नाटक और रंगमंच, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पृ. 7

इन विद्वानों में भरतमुनि, डॉ. रिजवे, प्रो. पिशेल, मैकडोनल, मैक्समूलर, लेवी, श्रोएदर, हर्तेल, डॉ. कीथ, वेबर आदि आते हैं।

भरतमुनि :

नाट्यशास्त्र में नाटक की उत्पत्ति को लेकर मुनियों द्वारा जिज्ञासा व्यक्त की गई है कि नाट्यवेद की उत्पत्ति कैसे और किन लोगों के लिए हुई? यथा-

'नाट्यवेदः कथं ब्रह्मन्नुत्पन्नः कस्य वा कृते।'

इस प्रश्न के उत्तर में भरतमुनि ने कहा कि जब इन्द्र आदि देवताओं ने ब्रह्मा से प्रार्थना की कि दृश्य-श्रव्ययुक्त मनोरंजन के किसी ऐसे माध्यम का निर्माण करें, जिसका उपयोग सभी वर्णों के लिए हो; क्योंकि शूद्र वेद वंचित हैं। यथा-

अ) 'क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्य श्रव्यं च यदभवेत्।'

आ) 'न वेद्वयवहारोऽयं सश्राव्यः शूद्रजातिषु।

तस्मात्सृजापरं वेद पञ्चमं सार्ववर्णिकम्।।'

देवताओं की प्रार्थना सुनकर ब्रह्माजी ने ऋगवेद से पाठ, यजुर्वेद से अभिनय, सामवेद से गान और अथर्ववेद से रस लेकर पाँचवें वेद के रूप में नाटक का निर्माण किया। यथा -

अ) 'जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।

यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।।'

आ) 'वेदापवेदैः सम्बद्धो नाट्यवेदो महात्मना।

एवं भगवता सृष्टो बह्मणा सर्ववेदिना।।'

सीताराम झा ने 'नाटक और रंगमंच' नामक पुस्तक में विभिन्न पाश्चात्य विद्वानों का उल्लेख करते हुए नाटक की उत्पत्ति के सन्दर्भ में लिखा है -

डॉ. रिजवे के मतानुसार नाटक की उत्पत्ति वीरों की स्मृति की रक्षा के लिए हुई है। अपनी बात को पुष्ट करने के लिए वे रामलीला, रासलीला का उदाहरण देते हैं, परन्तु उनका दृष्टिकोण सही नहीं लगता क्योंकि वीरों की स्मृति की रक्षा नाटक का उद्देश्य तो हो सकता है परन्तु इसे नाटक की उत्पत्ति का कारण नहीं माना जा सकता।

प्रो. पिशेल के अनुसार भारतीय नाटकों का विकास पुत्तलिका-नृत्य से हुआ है। राजशेखर की बाल-रामायण आदि में कठपुतलियों का संकेत तो मिलता है, परन्तु इस बात का ऐसा कोई ठोस प्रमाण नहीं मिलता कि कठपुतलियों से ही नाटक की उत्पत्ति हुई हो।

मैकडोनल के अनुसार भारतीय नाट्य का मूल वैदिक संवाद-सूक्तों में छिपा है। उन्होंने ऋग्वेद के सरमा-पणि, यम-यमी, पुरुरवा-उर्वशी आदि संवादों को नाटक का उत्स माना है। उन्होंने नाटक के मूल में 'नट' धातु को भी स्वीकारा है।

मैक्समूलर ने नाटक की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वेद को मूल आधार माना है। वे मानते हैं कि वैदिक कर्मकाण्डों से ही नाटक का विकास हुआ है।

सिलवाँ लेवी, लियोपोल्ड श्रोएदर, योहन्स हर्तेल आदि भी मैक्समूलर के मत से सहमत हैं तथा उनके इस मत का समर्थन भी करते हैं।

डॉ. कीथ ने ऋतु-परिवर्तन के प्रभाव को ही नाटक की उत्पत्ति का प्रधान कारण माना है। अपनी बात को पुष्ट करने के लिए उन्होंने 'कंशवध' नाटक का विश्लेषण करते हुए ऐसा कहा, कि कंस पर कृष्ण की विजय से हेमन्त पर ग्रीष्म की विजय सिद्ध होती है।

वेबर के अनुसार भारत में नाटकों की उत्पत्ति यूनानियों के सम्पर्क से हुई।

पाश्चात्य विद्वानों ने नाटक की उत्पत्ति प्राचीन यूनान में मानी है। एथेंस की रंगमंचीय संस्कृति ने नाटक के तीन वर्गों का निर्माण किया - त्रासदी, कामदी तथा कामुक नाट्य। ईसा की पाँचवी शताब्दी से पूर्व ये नाट्य रूप भगवान डायोनिसस का जश्न मनाने हेतु त्यौहार-उत्सवों के एक अभिन्न अंग के रूप में संस्थानागत प्रतियोगिताओं में प्रदर्शित होते थे।

नाटक के विभिन्न अर्थ :

1. ''ड्रामे-त्रासदी तथा कामदी के बीच एक उत्साहपूर्ण अभिनय (नाटक) का स्वरूप।''[4]
2. ''ड्रामा-रंगमंच, टेलीविजन या रेडियो के लिए किया जाने वाला अभिनय (नाटक)''।[5]

---

4 Drame – "A form of serious play between tragedy and comedy." Washer D., 'Encyclopaedia Dictionary of literature terms' (IVY Publishing House) Vol. 1, 1st Edition-2001, Reprint-2007, page-182

3. ''साहित्य से संबंधित अथवा साहित्य को समझाने वाली कोई नाट्य रचना तथा साहित्य नाट्य साहित्य कहलाती है।''[6]

4. ''गद्य या पद्यात्मक रचना जो अभिनय के अनुकूल हो तथा सामान्य रुचि से अधिक मनुष्य के जीवन को प्रदर्शित करने की इच्छा से रचा जाए अथवा किसी प्रभावशाली परिणाम की ओर प्रवृत्त गम्भीर या विनोदी कार्यों की श्रृंखला को वर्णित करे।''[7]

5. ''नट–नटी द्वारा प्रदर्शित संवाद तथा कर्म के माध्यम से मनुष्य के जीवन–संघर्ष की कथा को प्रस्तुत करने वाली एक साहित्यिक रचना।''[8]

6. ''जिसमें नाट्यधर्मिता हो वह नाटक कहलाता है।''[9]

7. ''नाटक घटनाओं की एक श्रृंखला है जिसमें आनंदमयता, सजीवता आदि पाई जाती है।''[10]

---

5 Drama – "A play for the theatre, television or radio." – Ed. by Wehmeier Sally, Oxford Advanced Dictionary, 6th Edition,

6 "Dramatic composition and the litrature pertaining to or illustrating it; dramatic litrature"- Webster's Revised Unabridged Dictionary, C 1996,1998 MICRA.

7 "A composition, in prose or poetry, accomodated to action, and intended to exhibit a picture of human life, or to depict a series of grave or humorous actions of more than ordinary interset, tending toward some striking result"-Webster's Revised Unabridged Dictionary, C 1996,1998 MICRA.

8 "A literary composition that tells a story, usually of human conflict, by means of dialouge and action, to be performed by actors"-Webster's New World College Dictionary, copyright 2005 Wiley Publishing, Inc. Cleveland Ohio.

9 "The quality of being dramatic"-Webster's New World College Dictionary, copyright 2005 by Wiley Publishing, inc. Cleveland Ohio.

10 "A series of events so interesting, vivid, etc. as to resemble those of a play".-Webster's New World College Dictionary, copyright 2005 by Wiley Publishing, Inc. Cleveland Ohio.

8. ''नाट्य लेखन, अभिनय अथवा निर्देशन संबंधी व्यवसाय की कला।''[11]

9. ''ड्रामा–गद्य या पद्य रचना जिसमें एक उत्साहपूर्ण कथा हो तथा नायक–नायिका का अभिनय नट–नटी द्वारा प्रस्तुत किया जाए।''[12]

10. ''एक वर्ग विशेष अथवा काल विशेष की रंगमंचीय अभिनय : (एलिजाबेथन ड्रामा)।''[13]

11. ''नाटकीय कर्म को लिखने या उत्पन्न करने की कला या अभ्यास।''[14]

12. ''नाटकीय होने की गुणवत्ता अथवा परिस्थिति : अभिनय से परिपूर्ण।''[15]

भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों दृष्टियों से नाटक की उत्पत्ति धर्म से संबंधित मानी गई है। यदि भारतीय परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो इसकी उत्पत्ति पंचम वेद के रूप में हुई है तथा दूसरी तरफ पाश्चात्य में यह भगवान डायोनिसस को प्रसन्न करने के उत्सव–पर्वों से सम्बन्धित है। अतः कहा जा सकता है कि नाटक का उद्‌भव धार्मिक है। नाटक में नाट्यधर्मिता का होना एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है तथा नाटक एक कला है जिसमें नट–नटी अपने संवादों तथा हाव–भावों के माध्यम से

---

11 "the art of profession of writing, acting in or producing plays."- Webster's New World College Dictionary, copyright 2005 by Wiley Publishing, Inc. Cleveland ohio.

12 "A prose or verse composition, especially one telling a serious story, that is intented for representation by actors impersonating the characters and performing the dialouge and action." www.answers.com (accessed 21 october 2013)

13 "Theatrical plays of a particular kind or period: Elizabethan drama."- www.answers.com (accessed 29 october 2013)

14 "The art of practice of writing or producing dramatic works."- www.answers.com (accessed 25 october 2013)

15 "The quality or condition of being dramatic: a summit meeting full of drama."- www.answers.com (accessed 7 November 2013)

नायक-नायिका का अभिनय करते हैं। यही वजह है कि इसे रूपक भी कहा जाता है क्योंकि इसमें नट-नटी पर नायक-नायिका होने का आरोप पाया जाता है। सामाजिक स्थिति तथा आवश्यकता के अनुरूप ही नाटक की उत्पत्ति हुई और धीरे-धीरे उसका परिष्कार और विकास हुआ।

नाटक के तत्त्व

भारतवर्ष में धर्म जीवन का अनिवार्य अंश रहा है। यहाँ जितने आनंद प्राप्ति के साधन हैं, उन सबका मूल धर्म में ही स्थित है। नाटक की रचना भी धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि के लिए हुई। इसी वजह से भारतवर्ष के प्राचीन नाट्य-साहित्य में दु:खान्त नाटकों का अभाव मिलता है। भारतीय नाटकों का उदय वैदिक कर्मकाण्डों तथा धार्मिक अवसरों पर होने वाले अभिनयात्मक नृत्यों से हुआ ऐसा कहा जा सकता है।

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने नाटक के तीन तत्त्व माने हैं :

1. वस्तु
2. नेता
3. रस

1. वस्तु : नाटक की कथा को वस्तु कहा जाता है। मूल कथावस्तु को आधिकारिक और गौण कथावस्तु को प्रासंगिक कहते हैं। प्रासंगिक कथावस्तु के पुन: दो भेद हैं - (i) पताका - बराबर चलने वाला

अवान्तर प्रसंग तथा (ii) प्रकरी - कुछ काल चलकर समाप्त हो जाने वाला अवान्तर प्रसंग। प्रत्येक नाटक में व्यापार शृंखला की पाँच अवस्थाएँ होती हैं - आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम।

2. नेता : नाटक का प्रधान पात्र नेता कहलाता है। नेता के लिए कुछ अपेक्षित गुण इस प्रकार हैं - विनीत, त्यागी, बुद्धिमान, उत्साही, आत्मसम्मानी, शूरवीर, दृढ़, तेजस्वी, धार्मिक आदि। नाटक के अन्य पात्र जैसे विदूषक, पुरोहित आदि सहायक पात्र होते हैं। नायक की फल-प्राप्ति में बाधक प्रतिनायक कहलाता है। नायक की प्रिया अथवा पत्नी को नायिका कहते हैं।

3. रस : भरतमुनि के अनुसार रस दृश्य-काव्य का एक आवश्यक तत्त्व है। जब अभिनेताओं के कुशल अभिनय से दर्शकों की वृत्तियाँ अपने-पराए की भावना से मुक्त हो नाट्य-रचना के मूलभाव के साथ एक तान हो जाती है तब इस प्रक्रिया को साधारणीकरण की संज्ञा दी जाती है। साधारणीकरण में जिस अनिर्वचनीय आनंद की अनुभूति होती है, उसी का नाम रस है। भारतीय नाट्यशास्त्र में रसानुभूति को ही नाट्य रचना का उद्देश्य माना गया है।

पाश्चात्य विद्वान अरस्तू ने नाटक (त्रासदी) के छः तत्त्व माने हैं :

1. कथानक / वस्तु
2. चरित्र-चित्रण तथा पात्र

3. पद–रचना या भाषा
4. विचार तत्त्व
5. दृश्य–विधान
6. गीत/संगीत

1. कथावस्तु : अरस्तू ने कथानक को त्रासदी का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग माना है और उसे काव्य त्रासदी की आत्मा माना है। कथानक से तात्पर्य घटनाओं के विधान से है। यहाँ वस्तु का तात्पर्य उस तत्त्व से है जो केवल लेखक के मन में रहता है और दर्शकवृंद उससे पूर्णतया परिचित नहीं होते। अरस्तू त्रासदी के कथानक के लिए एकान्विति, पूर्णता, सम्भाव्यता, सहज विकास, कुतूहल तथा साधारणीकरण के गुणों को महत्त्वपूर्ण मानते हैं।
2. चरित्र–चित्रण : अरस्तू ने त्रासदी के चरित्र के लिए चार गुण बताए हैं जिनके अन्तर्गत भद्रता, औचित्य, जीवन के अनुरूप तथा चरित्र में एकरूपता को स्थान मिला है। चरित्र–चित्रण में कवि की दृष्टि से ये चारों गुण होने चाहिए। आगे चलकर अरस्तू ने दो और गुणों को इसमें शामिल किया – सम्भाव्यता तथा यथार्थ एवं आदर्श का समन्वय।
3. पद–रचना : पद रचना का सम्बन्ध शब्द और उनके अर्थ से है। त्रासदी का माध्यम अलंकृत भाषा होती है, ऐसी भाषा जिसमें लय, सामंजस्य और गीत का समावेश हो। भाषा गद्य और पद्य दोनों में समान रूप में

रहती है अतः त्रासदी की पद-रचना अलंकृत, गरिमामय, समृद्ध परन्तु वागाडम्बर से मुक्त होनी चाहिए।

4. विचार तत्त्व : विचार तत्त्व का तात्पर्य बुद्धि तत्त्व से है। साथ ही अरस्तू ने भाव तत्त्व का समावेश भी इस तत्त्व के अन्तर्गत कर लिया है। डॉ. नगेन्द्र ने विचार तत्त्व के दो रूप बताए हैं - वस्तुगत रूप तथा आत्मगत रूप। वस्तुगत रूप में लेखक अपने पात्रों द्वारा उनके विचारों का प्रतिपादन करता है। आत्मगत रूप में कवि अपने विचार का प्रतिपादन करता है। अरस्तू ने वस्तुगत रूप पर ही बल दिया है।
5. दृश्य-विधान : इसका संबंध रंगमंच तथा साज-सज्जा के कार्य से है। यह एक बाह्य प्रसाधन है जिसका संबंध ऐन्द्रिय आकर्षण से है। अरस्तू के मतानुसार त्रासदी के सभी अंगों में सबसे कम कलात्मक यही है। यह कवि की बजाय मंच शिल्पी की कला पर अधिक निर्भर करता है।
6. गीत : यह त्रासदी के सौन्दर्य में वृद्धि करने वाला आवरण है। वृन्द गायन में स्वतंत्र रूप से इसका प्रयोग होता है।

अरस्तू के इन तत्त्वों के आधार पर आज नाटक के छः तत्त्व माने जाते हैं :

1. कथावस्तु
2. देशकाल
3. चरित्र-चित्रण
4. संवाद

5. भाषा–शैली
6. उद्देश्य

1. कथावस्तु :

कथावस्तु नाटक का आधार तत्त्व है। नाटक के दोनों पक्ष – रचना और प्रयोग मूलतः उसी पर आश्रित होते हैं। उसके बिना न तो नाट्य–रचना सम्भव है और न ही उसका प्रदर्शन। कथावस्तु के स्वरूप निर्धारण में पात्र, स्थान, घटना और परिणाम – इन सभी का उचित योग रहता है। इन सभी अंगों के व्यवस्थित रूप से समावेश न होने पर नाटक प्रभावशाली नहीं बन पाता। अरस्तू के अनुसार कथावस्तु 'the soul of tragedy' है। अरस्तू के इस मत का समर्थन करते हुए एफ. एल. लुकस ने इस सन्दर्भ में कहा है – 'It is a most important thing – the soul of drama.' कथावस्तु के निर्माण में बहुत ही सचेष्टा की आवश्यकता पड़ती है।

नाटक की कथावस्तु चयन में उदार दृष्टिकोण का होना अत्यावश्यक है। उसे वर्ग विशेष तक सीमित नहीं करना चाहिए। किसी समय में भारत तथा पश्चिम में कथावस्तु को एक निश्चित सीमा में आबद्ध करने का चलन था परन्तु समय के साथ इसमें परिवर्तन आया।

सामान्यतः कथावस्तु को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है –

1. आधिकारिक
2. प्रासंगिक

आधिकारिक कथा उसे कहते हैं जो नायक को फल-प्राप्ति तक पहुँचाता है। जो कथा आधिकारिक कथा को उसके प्रयोजन की सिद्धि में सहायता करे उसे प्रासंगिक कथा कहते हैं।

प्रासंगिक कथा के भी दो भेद होते हैं -

1. पताका
2. प्रकरी

पताका उस प्रासंगिक कथा को कहते हैं, जो मुख्य कथा के साथ लगातार चलती रहती है। इसका नायक प्रधान नायक की तरह गुणी होता है परन्तु उसका कोई पृथक उद्देश्य नहीं होता। उसका सारा प्रयत्न नायक की फल-प्राप्ति में सहायता करने का होता है।

प्रकरी एक लघु प्रासंगिक कथा होती है क्योंकि उसकी योजना कुछ ही समय के लिए होती है।

नाटक में कथावस्तु और नायक का सम्यक विकास दिखाया जा सके तथा रस का सुन्दर परिपाक हो सके इसके लिए पञ्चावस्थाओं की योजना की जाती है, यथा-

'अवस्था पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः।

आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमाः ।।'

अर्थात् कथावस्तु की पाँच अवस्थाएँ इस प्रकार है -

1. आरम्भ
2. प्रयत्न
3. प्राप्त्याशा
4. नियताप्ति
5. फलागम

आरम्भ : प्रमुख साध्य की प्राप्ति के लिए उत्कण्ठा प्रदर्शित करने एवं तदनुरूप कार्य प्रारम्भ करने को आरम्भावस्था कहते हैं, यथा - 'फलायौत्सुक्यम् आरम्भः।'

प्रयत्न : यदि फल की प्राप्ति चाहिए तो केवल इच्छा मात्र से काम नहीं बनता। फल को प्राप्त करने के लिए उचित प्रयत्न करने पड़ते हैं। नाटक में प्रयत्न से तात्पर्य उस क्रिया से है, जो फल को पाने के लिए तीव्र गति से आरम्भ होती है, यथा -

'प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः।'

प्राप्त्याशा : प्राप्त्याशा का अर्थ होता है फल की सम्भावना। इस अवस्था तक ये स्पष्ट नहीं हो पाता कि नायक को फल की प्राप्ति निश्चित हो गई है, लेकिन प्रयत्न के आधार पर ऐसा अनुमान लगा लिया जाता है कि फल-प्राप्ति में सफलता मिल जाएगी। यहाँ सम्भावना मात्र ही मिलती है क्योंकि फल-प्राप्ति के दौरान मुसीबतों के आने की आशंका रहती है।

नियताप्ति : नियताप्ति की अवस्था में पहुँचकर इतना स्पष्ट हो जाता है कि अब किसी मुसीबत की आशंका नहीं है। नियताप्ति का अर्थ होता है प्राप्ति की निश्चितता। यदि फल की प्राप्ति हो जाए तो फिर फलागम के प्रति दर्शकों की उत्सुकता बढ़ जाती है।

फलागम : नाट्य-व्यापार की अंतिम अवस्था फलागम कहलाती है, जहाँ पहुँचकर नाटक सार्थक हो जाता है। यहाँ पहुँचकर समग्र फल की उपलब्धि हो जाती है। नाटकीय व्यापार का तो लक्ष्य ही होता है नायक को फलागम की स्थिति तक ले जाना।

2. देशकाल :

देशकाल अथवा वातावरण को कृति के वर्ण्य-विषयों के समय के अनुकूल योजना करने का यद्यपि उपन्यास, कहानी आदि गद्य-विधाओं तथा प्रबन्ध-काव्य, खण्ड-काव्य आदि काव्य-विधाओं में भी पर्याप्त महत्त्व है, किन्तु नाटकों में उसका महत्त्व सर्वाधिक है। कारण यह है कि देशकाल की उपयुक्त योजना करने से ही नाटककार अपने वर्ण्य-विषय को संभाव्यता प्रदान करने में सफल रहता है। पात्रों की वेशभूषा, आचार-व्यवहार, बोलचाल आदि सभी तथ्यों में इस बात के प्रति विशेष जागरूकता दिखानी पड़ती है कि वे उसी युग के अनुकूल हो, जिस युग की कहानी को उसने अपने नाटक की कथावस्तु के रूप में अपनाया है। इसके लिए यह आवश्यक है कि उसके कार्य-व्यापार में सघनता हो जिससे दर्शक कम समय में एवं स्वाभाविक रूप में प्रदर्शित स्थितियों से

तादात्म्य स्थापित कर सच्चे अर्थ में आनन्द प्राप्त कर सकें। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए संकलनत्रय की आवश्यकता पड़ती है। संकलनत्रय का अर्थ होता है कार्य संकलन, स्थल संकलन तथा काल संकलन का समन्वय।

क) कार्य संकलन : नाटक में अनावश्यक कार्यों का समावेश होने पर दृश्यों की अधिकता हो सकती है, जिसके कारण रंगमंचीय व्यवस्था में व्यवधान उपस्थित हो सकता है। अनेक घटनाओं के समावेश से मुख्य घटना का प्रवाह शिथिल पड़ जाएगा जिससे नाटक में बिखराव की स्थिति आ जाएगी। नाटक में घटनाओं का संयोजन ऐसा होना चाहिए कि एक भी घटना के इधर-उधर हो जाने से उस नाटक की बनावट ही सम्भव न हो। अतएव नाटक की सभी घटनाएँ स्वाभाविक एवं सुसंगत होनी चाहिए, जिन्हें देखकर जीवन की वास्तविकता एवं सार्थकता से परिचित होने का सुयोग प्राप्त हो सके।

ख) स्थल संकलन : नाटक की सम्पूर्ण घटनाएँ एक ही स्थान पर नहीं घटा करती है, परन्तु हर दृश्य को अलग-अलग दिखाया जाना सम्भव नहीं। कुछ ऐसे दृश्य भी होते हैं जिन्हें रंगमंच पर दिखाना उपयुक्त नहीं होता, जैसे - समुद्री जहाज, हवाई जहाज, टूटते पहाड़, भीषण अग्निकांड आदि। स्थल संकलन में इस बात की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए कि दूर-दूर के स्थानों को एक साथ नहीं रखना चाहिए। यदि ऐसी स्थिति आ पड़े तो उसे प्रसंगवश संवाद के माध्यम से उल्लिखित कर देना चाहिए, न कि दृश्य को दिखाने का प्रयास किया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति रेलगाड़ी में घायल हुआ हो, तो

उसके लिए रंगमंच पर रेलगाड़ी प्रस्तुत करने के बजाय उस घायल व्यक्ति को सामान्य दृश्य (घर या अस्पताल) में ही दिखाया जा सकता है और संवादों में ही रेलगाड़ी में हुई दुर्घटना का उल्लेख ही अधिक प्रभावशाली प्रतीत होगा। इसके अलावा बमबारी की खबर टेलीफोन द्वारा सूचना रूप में प्रस्तुत की जा सकती है। अत: अनेक स्थलों से सम्बद्ध घटनाओं को सुनियोजित कर नाटक में एक ही स्थान पर दिखाने का प्रयास करना चाहिए।

ग) काल संकलन : नाटककार को समय-सीमा हमेशा ध्यान में रखनी चाहिए। यदि नाटक का आधार पौराणिक या ऐतिहासिक हो तो उसे उसी परिप्रेक्ष्य में दिखाना चाहिए। पात्रों की वेशभूषा, भाषा, आचार-विचार, रहन-सहन का स्तर, जीवन-जगत के अन्य उपकरण सभी काल सापेक्ष ही होते हैं। यदि उनका पालन नाटक में न हो, तो उसमें न तो स्वाभाविकता आएगी और न ही उसे देखकर दर्शक प्रभावित होंगे। उदाहरण के लिए राम अथवा कृष्ण से सम्बन्धित नाटक लिखा जाए तथा राम सूट-बूट में प्रस्तुत किए जाए और उनके हाथ में धनुष-बाण के स्थान पर पिस्तौल हो या फिर कृष्ण को बाँसुरी के बदले गिटार बजाते दिखाया जाए तो यह निश्चित ही हास्यास्पद प्रतीत होगा।

निष्कर्षत: कह सकते हैं कि नाटक के सफल प्रदर्शन के लिए संकलनत्रय का उपयोग आवश्यक है। इसके अभाव में नाटक तमाशा मात्र बन कर रह जाएगा और न ही दर्शकों को प्रभावित कर पाएगा।

3. पात्र योजना (चरित्र-चित्रण)

पात्र-योजना का नाटक के तत्त्वों में विशेष स्थान है। कथावस्तु के अनुरूप ही पात्रों का चयन तथा उनकी संख्या निर्धारित की जानी चाहिए। जरूरत से अधिक पात्रों का समावेश नहीं होना चाहिए। ध्यान देने की बात यह है कि नाटक में कम-से-कम पात्रों द्वारा नाट्य-घटनाओं को सफलतापूर्वक प्रदर्शित करना चाहिए न कि अनावश्यक भीड़ कर देनी चाहिए। यदि नाटक के पात्र कम हो तो सहृदय को उनके पारस्परिक संबंध समझने में आसानी होगी।

नाटक में पात्रों का अपना - अलग महत्त्व होता है। लेकिन फल-प्राप्ति और भूमिकाओं के अनुसार उनके कई भेद तथा उपभेद कर दिए जाते हैं, जैसे- नायक, नायिका, सहायक पात्र आदि।

क) नायक : नायक नाटक का मुख्य पात्र होता है। नायक वह पात्र होता है जो नाटक की प्रमुख कथावस्तु को विकास की ओर ले जाता है। नाट्यशास्त्र के अनुसार नायकों के चार भेद बताए गए हैं, यथा -

धीरोद्धता धीरललिता धीरोदात्तास्तथैव च।

धीरप्रशान्तकाश्चैव नायकाः परिकीर्तिताः।।

अर्थात् नायक के चार भेद इस प्रकार हैं -

क) धीरोदात्त नायक

ख) धीरललित नायक

ग) धीरप्रशान्त नायक

घ) धीरोद्धत नायक

क) धीरोदात्त नायक : धीरोदात्त नायक में उदात्तता का प्राधान्य रहता है। धीरोदात्त नायक उसे कहते हैं, जो क्रोध, शोक आदि विकारों से विचलित नहीं हो, हर स्थिति में सुगम्भीरता का परिचय दे, स्थिर स्वभाव का हो, विनम्रतायुक्त स्वाभिमान रखे, अपनी प्रशंसा स्वयं न करे, क्षमाशील बना रहे तथा अपना प्रण पूर्ण करके दिखलाए। धीरोदात्त नायक एक महान आदर्श पात्र होता है। उदात्त वही कहलाता है जो परिस्थिति की प्रतिकूलता में जीवन-विकास का मानदण्ड प्रस्तुत करे। धीरोदात्त का तो यही अर्थ है, जो स्थिरचरित रहकर अपने को सामान्य से उत्कृष्ट सिद्ध कर सके।

ख) धीरललित नायक : धीरललित नायक कलाप्रेमी, चिन्तायुक्त, कोमल स्वभाव वाला तथा सदा सुख का अनुभव करने वाला होता है।

ग) धीरप्रशान्त नायक : धीरप्रशान्त नायक में अहंकार का भाव नहीं होता तथा वह सभी स्थितियों में हर तरह से शान्त रहता है। वह हमेशा दूसरों के हित की सोचता है तथा नीति के अनुसार आचरण करता है।

घ) धीरोद्धत नायक : धीरोद्धत नायक वह होता है जिसका आचरण धीरोदात्त नायक के बिल्कुल विपरीत हो। यदि धीरोदात्त नायक गम्भीर, विनयशील, निष्कपट तथा आलीन भाव का होता है तो धीरोद्धत नायक चंचल, अहंकारी, छली-कपटी, धोखेबाज तथा क्रोधित रहने वाला व्यक्ति होता है।

नायिका : नायक की पत्नी अथवा प्रेमिका नायिका कहलाती है।

नायिका के भेद :

क) स्वकीया

ख) परकीया

ग) सामान्या

स्वकीया नायिका नायक की पत्नी होती है, वह अपने पति को छोड़कर अन्य किसी दूसरे पुरुष से कभी भी प्रेम नहीं करती। परकीया नायिका नायक के अतिरिक्त भी किसी उपनायक अथवा दूसरे पात्र के साथ प्रेम-सम्बन्ध रखती है। सामान्या नायिका का कोई पति नहीं होता।

प्रतिनायक (खलनायक) : किसी भी महान उद्देश्य की पूर्ण सिद्धि बिना साधना के नहीं हो सकती। नाटक में नायक निष्ठा, अवस्था एवं दक्षता की यदि परीक्षा लेनी हो, तो इसके लिए प्रतिनायक का होना आवश्यक हो जाता है। नाट्यदर्पण के अनुसार खलनायक दुर्गुणों से ग्रस्त वह पात्र है, जो नायक की फल-प्राप्ति में बाधक होता है, यथा -

'मुख्यनायकस्य प्रतिपन्थी नायकः प्रतिनायकः।'

4. संवाद :

नाटक में संवादों की योजना केवल वार्तालाप के लिए नहीं की जाती, अपितु उससे पात्रों के चरित्र, सभ्यता, संस्कृति और पूरे नाटकीय वातावरण पर भी प्रकाश पड़ता है।

संवाद के लक्षण :

क) स्वाभाविकता

ख) सरलता और स्पष्टता

ग) प्रभावोत्पादकता

घ) रोचकता

ङ) संक्षिप्तता

क) स्वाभाविकता : नाटक में संवादों का स्वाभाविक होना अति आवश्यक है क्योंकि जब तक वे स्वाभाविक न हो, तब तक वे दर्शकों के लिए ग्राह्य नहीं हो सकेंगे। व्यक्ति अपनी रोज़मर्रा की जिन्दगी में जिस तरह बातचीत करता है वह विश्वसनीय प्रतीत होती है, ठीक उसी प्रकार नाटक के संवादों में भी विश्वसनीयता की छाप मिलनी चाहिए।

ख) सरलता और स्पष्टता : आम तौर पर लोग नाटक देखने तो जाते ही हैं परन्तु निश्चित रूप से ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वहाँ मौजूद सारे लोग पढ़े-लिखे विद्वान ही हो। अतः संवादों की योजना ऐसी होनी चाहिए कि वे क्लिष्ट तथा अस्पष्ट न हो। नाटक देखने के लिए मूर्ख, विद्वान सभी जाते हैं। इसलिए संवाद में ऐसे शब्दों का प्रयोग होना चाहिए जिनके अर्थ के लिए विशेषज्ञ का प्रयोजन न पड़े।

ग) प्रभावोत्पादकता : समय की सीमा को ध्यान रखते हुए नाटक के संवाद ऐसे होने चाहिए जिनमें कम-से-कम बोलकर अधिक-से-अधिक प्रभाव उत्पन्न किया जा सके। वैसे भी संवाद का मूल उद्देश्य सहृदय में उस भाव की प्रतिष्ठा करना है, जो नाटक का प्रतिपाद्य होता है।

घ) रोचकता : संवाद रोचक तथा आकर्षक हो, तभी सर्वोत्तम कहलाता है। यदि संवाद रोचक न हो तो वह दर्शकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर पाता जिससे कथा-विकास को समझने में कठिनाई हो सकती है। जी. पी. बेकर के शब्दों में 'dialogue is naturally, still better if it possesses charm, grace, whit, irony or beauty of its own.'[16]

ङ) संक्षिप्तता : नाटक के संवाद तभी सफल माने जाते हैं जब वे संक्षिप्त हों, क्योंकि नाटक में कई पात्र होते हैं अतः कथोपकथन का मौका सबको मिलना चाहिए। यदि संवाद ज्यादा लम्बे हो जाएँ तो दर्शक ऊब जाते हैं इसलिए बात को ज्यादा घुमा-फिराकर कहने के बजाय सटीक ढंग से कहना चाहिए।

5. भाषा-शैली :

नाटक की भाषा का स्वरूप उसके कथानक, देशकाल-वातावरण, पात्रों की योग्यता तथा भूमिका पर निर्भर करता है। साधारण बोलचाल में भी भिन्नता पाई जाती है तो नाटक के विभिन्न पात्रों के भाषा-स्तर में भी भिन्नता पाई जानी चाहिए।

---

[16] For more details see https: // archive. org/stream/ dramatic techniqu00 bakeuoft_ djvu.txt (Accessed 3 February 2015)

नाटकीय पात्रों के भाषा-व्यापार में भिन्नता पाई जाती है। इसका कारण यह हो सकता है कि यदि पात्र एक ही स्थल के हैं, तो अपनी योग्यता, पद, मानसिकता के अनुसार उनके शब्द चयन में भिन्नता दिखाई पड़ेगी। दूसरी तरफ यदि पात्र अलग-अलग प्रांत से हैं तो उनके उच्चारण या फिर भाषा-व्यापार में क्षेत्रीयता का प्रभाव आ सकता है जिससे स्पष्ट हो जाएगा कि वे किस प्रांत के हैं उदाहरण के लिए बंगाली, पंजाबी आदि।

नाटककार को शब्द-चयन करते वक्त काफी सतर्कता बरतनी चाहिए। वह आवश्यकतानुसार नाटक में तत्सम्, तद्भव, देशज, विदेशज, मिश्रित, काव्यात्मक आदि सभी भाषाओं का प्रयोग कर सकता है। पर जहाँ तक हो सके हर स्थिति में सरलता पर ध्यान रखना चाहिए। यदि नाटक में वकील, डॉक्टर, अध्यापक, राजनेता जैसे पात्र हो तो उनकी भाषाओं में अन्तर का होना स्वाभाविक माना जाएगा।

नाटक की भाषा का चयन करते वक्त उस नाटक के देशकाल का बहुत महत्त्व रहता है। उदाहरण के लिए यदि नाटक पौराणिक तथा ऐतिहासिक है तो नाटककार को उस काल-विशेष के आचार-विचार, दर्शन, कला संस्कृति, सभ्यता, आवश्यक उपकरण आदि का ध्यान रखते हुए भाषा का चयन करना होगा, जिससे नाटक स्वाभाविक तथा मौलिक रूप में प्रस्तुत किया जा सके। इसके लिए परम्परा को ध्यान में रखते हुए प्रचलित शब्दों का प्रयोग किया जाना चाहिए। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि ऐसे शब्दों का प्रयोग न हो जो परिस्थिति तथा समय से मेल न खाते हों, जैसे पौराणिक नाटक में प्राणनाथ, पतिदेव, आर्यपुत्र

आदि के स्थान पर हस्बैण्ड, फ्रैण्ड, डियर आदि का प्रयोग न हो या फिर नमस्कार के स्थान पर हाय, हेलो, गुड-मॉरनिंग आदि के प्रयोग न किए जाए।

प्राचीन काल में विभिन्न जातियों के अनुसार भाषा-विधान किया गया था, जिसका संकेत नाट्यदर्पण में मिलता है, यथा -

'जात्यन्तरादीनामानुरूप्येण तश संकथा।'

आधुनिक काल में संस्कार-भिन्नता के कारण उच्चारण में भी अन्तर पाया जाता है। भाषा का रूप समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप निश्चित और परिवर्तित होता चलता है। अतएव देशकाल तथा पात्रों के अनुकूल भाषा शैली ही नाटक के लिए प्रभावकारी सिद्ध होता है।

6. उद्देश्य :

नाटक के निर्माण काल में उसका उद्देश्य मनोरंजन ही था। दूसरी तरफ नाटक इतने व्यापक उद्देश्य से निर्मित हुआ कि उसमें सभी अवस्थाओं, स्तरों एवं श्रेणियों के लोगों का हित निहित है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटक के उद्देश्य इस प्रकार हैं -

क) इसका उद्देश्य सभी लोगों को उनके मनोनुकून विचार-सामग्री प्रदान करना है यानी जो धर्मावलम्बी हैं उन्हें कर्त्तव्य-पालन की शिक्षा देना, जो कामप्रिय हैं उन्हें उसके अनुकूल सामग्री प्रदान करना, जो उद्धत हैं उन्हें विनयशील बनाना और जो विनीत हैं उन्हें संयम से परिचित कराना, यथा -

'धर्मो धर्मप्रवृत्तानां कामः कामोपसेविनाम्।

निग्रहो दुर्विनीतानां विनीतानां दमक्रिया।।'

ख) कायरों को साहसी बनाना, वीरों को उत्साहपूर्ण बनाए रखना, अज्ञानियों को ज्ञान देना और ज्ञानियों को महाजनी बनाना भी नाटक का उद्देश्य है, यथा–

'क्लीबानां धाष्टर्यजननमुत्साहः शूरमानिनाम्।

अबुधानां विबोधाय वैदुष्यं विदुषामपि।।'

ग) इससे धनोपार्जन, धैर्य, विलास, कष्ट, सहिष्णुता आदि की भी शिक्षा मिलती है, यथा –

'ईश्वराणां विलासश्च स्थैर्यम् दुःखार्दितस्य च।

अर्थोपजीविनामर्थो धृतिरूद्विग्नचेतसाम्।।'

घ) प्रसन्नचित्त लोगों को आनंद प्रदान करने के साथ ही श्रान्त तथा संतप्त व्यक्तियों के कष्टों को हरना भी इसका उद्देश्य है–

दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।

विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद्भविष्यति।।

अतः नाटक से बढ़कर कोई सिद्धि नहीं मिल सकती और न ही इससे महान उद्देश्य किसी अन्य का हो सकता है।

समय के साथ नाटक के उद्देश्य भी परिवर्तित हो रहे हैं जिनमें मुख्यत: समाज सुधार, राष्ट्रीयता की भावना, नारी के प्रति नवीन दृष्टिकोण आदि विषयों को केन्द्रीय स्थान मिल रहा है।

भारतीय आचार्यों ने नाटक के तीन तत्त्वों की अवधारणा प्रस्तुत की जो इस प्रकार है - वस्तु, नेता तथा रस। वस्तु के अन्तर्गत नाटक की कथावस्तु की चर्चा की जाती है, नेता के अन्तर्गत नाटक के नायक तथा अन्य पात्रों की चर्चा की जाती है तथा रस के अन्तर्गत नाटक का उद्देश्य आ जाता है। पाश्चात्य विद्वान अरस्तू ने त्रासदी के सन्दर्भ में नाटक के छ: तत्त्व माने, जिनमें कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, पद-रचना, विचार तत्त्व, दृश्य-विधान तथा गीत आते हैं। अरस्तू के इन तत्त्वों के आधार पर ही नाटक के छ: तत्त्व निर्धारित हुए जिनमें कथावस्तु, देशकाल, चरित्र-चित्रण, संवाद, भाषा-शैली तथा उद्देश्य को स्थान मिला। निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि अलग-अलग दृष्टियों से नाटक के अलग-अलग तत्त्व बताए गए परन्तु ये सारे तत्त्व अलग-अलग दृष्टिकोण होने पर कहीं-कहीं समानार्थी हैं। भारतीय आचार्यों ने नाटक के केवल तीन तत्त्व ही बताए परन्तु इन तीन तत्त्वों के अन्तर्गत ही नाटक के छ: तत्त्वों की चर्चा हो जाती है।

रंगमंच की उत्पत्ति :

रंगमंच कला प्रदर्शन की एक शाखा है जिसका संबंध नाटक और संगीत की प्रस्तुति से है। पूरा विश्व इसके दायरे में आता है तथा इसका अपना गहरा

प्रभाव है। अपनी स्थापना के समय से ही रंगमंच ने नृत्य, हाव-भाव तथा मूकाभिनय वगैरह को मिलाकर एक कलात्मक रूप को प्रदर्शित करने का प्रयास किया है। रंगमंच के इतिहास में विभिन्न श्रेणियाँ अलग-अलग समय में आए और धीरे-धीरे इनका विकास हुआ जिसका परिणाम हमारा आज का आधुनिक वर्तमान रंगमंच है। रंगमंच की कला का कलाकार के सजीव प्रदर्शन से गहरा संबंध है जहाँ वह दर्शक के समक्ष नाटक का एक सुसंगत और महत्त्वपूर्ण भाव योजनाबद्ध तरीके से प्रस्तुत करता है। सामान्य शब्दों में, रंगमंच में वे सभी तत्त्व शामिल हैं जो नाटकीय प्रकृति के प्रदर्शन में सहयोग देते हैं।

रंगमंच की उत्पत्ति के संबंध में अलग-अलग धारणाएँ हैं। अधिकांश विद्वान प्राचीन कालीन मनुष्य की अवस्था की कल्पना करने तथा उसे समझने के लिए मानव-विज्ञान के अध्ययनों की सहायता लेते हैं। पुरातन काल से, जब मनुष्य ने अपने से ऊपर सर्वोच्च शक्तियों के अस्तित्व पर विश्वास करना शुरु किया तब से इन्हें पूजा-अनुष्ठान के द्वारा प्रसन्न करने का दस्तूर चल पड़ा।[17] हालांकि मानव सांस्कृतिक विकास के कुछ बाद के चरण में रंगमंच एक कला के रूप में उभरा परन्तु आम तौर पर ऐसा माना जाता है कि इसकी जड़े आदिम धार्मिक अनुष्ठानों से जुड़ी हैं। आदिम समाज के व्यवहार में तरीके थे जिन्हें पूर्व नाटकीय रूप कहना उचित होगा। इन विभिन्न तरीकों से अप्रत्याशित रहस्यमय चक्र का अनुभव करने वाले लोगों की मानसिक स्थिति का पता चलता है। वे

---

17 New Illustrated Columbia Encyclopaedia, Vol. 6 (New York : Columbia University Press, 1979), p. 1814

उस सर्वोच्च शक्ति को प्रसन्न करने के लिए पूजा-अनुष्ठान करते जो कि उनका मार्गदर्शन और सुरक्षा करते।

शुरुआत में अनुष्ठान संबंधी गतिविधि उनसे जुड़ी घटनाओं अथवा वस्तुओं के सरल अनुकरण तक ही सीमित थी। उत्सव के संस्कारों में शामिल मुख्य कलाकार प्रकृति, धार्मिक पात्र अथवा भगवान से जुड़े प्रतीक रूप में होते थे। यदि अभिनेता उन्मत्त हो जाता तो यह मान लिया जाता था कि ईश्वर को परमानंद की अनुभूति हो रही है।

ऐसे अवसरों पर समुदाय के लोग स्वैच्छिक रूप से अनायास ही शामिल हो जाते और अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते। विद्वानों ने प्राचीनतम पाश्चात्य रंगमंचीय रूप का पवित्र संस्कारों से घनिष्ठ संबंध अनुभव किया क्योंकि इन संस्कारों ने अपनी धार्मिक जड़ों से संबंधित सूत्रों को हमेशा संरक्षण प्रदान किया है।[18] इसकी शुरुआत साधारण अनुकरण से हुई परन्तु इस प्रक्रिया में ये संस्कार तथा अनुष्ठान दृढ़ परम्परा का एक हिस्सा बन गए।

नृत्य अनुष्ठान से संवाद और औपचारिक कथा युक्त प्रस्तुति शैली में परिवर्तित रूप को जाँचना मुश्किल था क्योंकि बदलते सामाजिक क्रम की घटनाएँ तथा उनके विवरण को दर्ज करने पर ज़्यादा जोर नहीं दिया जाता था। हालांकि लोगों ने अपने बहुमूल्य अनुभव को नष्ट नहीं होने दिया और अपनी अगली पीढ़ी को मौखिक रूप में प्रेषित किया। उनके उत्तरगामी पीढ़ी ने अपनी जरूरतों की

---

18 The Encyclopaedia Britannica, Vol. 18, op. cit. p. 219

प्रतिक्रिया रूप में सहज नवीनता और रूपांतरण के साथ इन परम्पराओं को विरासत के रूप में ग्रहण किया। नाटक, नृत्य, गीत, संगीत, वेशभूषा, अनुकरण प्रस्तुति और सामुदायिक भागीदारी के विभिन्न मौलिक सिद्धांतों का महत्त्व हासिल करने से अनुष्ठानों में परिवर्तन आया। इन व्यावहारिक प्रस्तुतियों तथा वैधिक वातावरण में निहित कई तत्त्वों ने रंगमंच के विकास को आगे बढ़ाया। इस प्रकार शुरुआत से ही रंगमंच और अनुष्ठान इकट्ठे मौजूद थे और रंगमंच मानव सभ्यता की आदिम विश्वास प्रणाली का एक महत्त्वपूर्ण अंग था। अतः रंगमंच का विकास एक लम्बी प्रक्रिया से गुज़रा जिसने कई नाटकीय शैलियों को जन्म दिया।

आज 'रंगमंच' शब्द अत्यंत लोकप्रिय हो गया है। जैसा कि रंगमंच का उपयोग निरंतर बढ़ रहा है, विद्वानों और विशेषज्ञों का एक समूह महत्त्वपूर्ण विश्लेषण और टिप्पणी पर कार्य कर रहा है जो कि एक साधारण मनुष्य को उलझन में डाल देता है। रंगमंच की वैचारिक समृद्धि और तीव्र अभिव्यक्ति को समझने के लिए दो अलग-अलग कला रूपों के रूप में नाटक और रंगमंच की नज़दीकी और विशिष्टता को समझना अत्यावश्यक है। नाटक और रंगमंच एक दूसरे पर निर्भर हैं और दोनों स्वतंत्र रूप में भी मौजूद हो सकते हैं। जब अभिनेता एक ही समय तथा स्थान के ढाँचे में अपने कथन, शारीरिक हाव-भाव, संगीत, कविता, नृत्य और मूकाभिनय के माध्यम से दर्शकों तक अपनी आंतरिक भावनाओं और विचारों को व्यक्त करता है तब रंगमंच एक प्रदर्शनकारी कला के रूप में विद्यमान होता है। दूसरी तरफ नाटक एक साहित्यिक कला के रूप में या

एक प्रदर्शन पाठ के रूप में प्रचलित हो सकता है जिसमें लेखक साहित्य के माध्यम से किसी भाव अथवा विचार को व्यक्त करता है। हालांकि नाटक और रंगमंच के बीच का अंतर कभी-कभी अस्पष्ट होता है।

रंगमंच के मूल तत्त्व :

सभी मतभेदों के अतिरिक्त, एक व्यापक अर्थ में रंगमंच कुछ बुनियादी विशेषताओं को स्पष्ट करता है। इसमें किसी अभिनेता अथवा कलाकार द्वारा एक निश्चित स्थान पर अभिनय किया जाता है जो किसी निश्चित समय में दर्शकों द्वारा देखा जाता है। नाटकीय परिभाषा में यह विषय-वस्तु, स्थान, अभिनेता, दर्शक और समय की ओर संकेत करता है। नाटकीय प्रस्तुति में एक विशिष्ट विषय पर प्रदर्शन किया जाता है। यह भावुक अभिनय, नृत्य, संगीत अथवा समाज के अतीत, वर्तमान या रोज़मर्रा के जीवन की संस्कृति के प्रति बिम्ब पर आधारित हो सकता है। अभिनेता मंच पर दर्शकों के समक्ष उन्हीं का सजीव रूप प्रस्तुत कर रहा होता है। यह दर्शकों को भागीदारी का अनुभव कराता है। इसी तरह रंगमंच की कला का संबंध कहानी या विषय के सम्बन्ध में कलाकारों के अति गहन विचार और भावनाओं की अभिव्यक्ति से संबद्ध होता है जिससे कि दर्शक भी कार्यक्रम में हिस्सा ले सकें।

इस प्रकार रंगमंच की कला में बहुत से लोगों का घना सहयोग शामिल होता है। प्रत्येक रंगमंचीय रूप का अपना एक मुख्य मानदण्ड होता है परन्तु रंगमंच के कुछ बुनियादी प्रधान तत्त्व होते हैं जो इसके विभिन्न रूपों में मौजूद

होते हैं, यथा – अभिनेता, दर्शक, स्थान और विषयवस्तु। रंगमंच के मूल तत्त्वों का क्रम निर्धारण करने के सन्दर्भ में विभिन्न रंगमंच कार्यकर्ताओं ने मत रखे हैं। अब तक दर्शकों के अनुसार प्रस्तुति के सबसे अनिवार्य अंग के रूप में अभिनेता का ही प्राधान्य रहता है। रंगमंच की किसी भी अवधारणा में प्रस्तुति का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग अभिनेता ही होता है। अपने पाठ को सजीव भाव के रूप में दर्शकों तक पहुँचाने के लिए लेखक अभिनेता पर आश्रित होता है। इसी कारण दर्शक अभिनेता पर आश्रित होती है क्योंकि उसी के माध्यम से कथन, हाव–भाव या हरकतों में विचारों को व्यक्त किया जाता है।

अभिनेता दर्शकों तक विषय पहुँचाने का एक साधन है। उसके प्रत्येक हाव–भाव अर्थपूर्ण तथा प्रसंगानुकूल होने चाहिए। अभिनेता को एक कुशल कलाकार होना चाहिए जो कि रंगमंचीय अदायगी को बारीकी से समझता हो। अभिनेता तथा अन्य प्रतिभागी स्वनिर्देशन में सक्षम होते हैं और अभिनेता की आवाज़ अच्छी होनी चाहिए।

चूंकि रंगमंच एक सहयोगपूर्ण कला है, अभिनय हमेशा 'किसी' के लिए किया जाता है।[19] अधिकांश कला की तुलना में रंगमंच दर्शकों की प्रतिक्रिया पर निर्भर करता है जो उसे अभिनय के रूप में स्वीकारती है और मान्यता प्रदान करती है। यदि भवन पूरी तरह से नहीं भरा है तो यह अपने गुण खो देता है।

---

19 Carlson Marvin, Performance : A Critical Introduction, (New York : Routledge, 1926), p. 5-6

यदि प्रदर्शन अच्छा हो रहा है, तो दर्शक उसी में रम जाते हैं और उन किरदारों को खुद से जोड़ने लगते हैं। दर्शक का व्यक्तित्व अधिक भावुक होता है।

नाटकीय प्रस्तुति की फल-साधना केवल पाठ की उत्कृष्टता पर निर्भर नहीं करती। नाट्य कला तब सफल कहलाती है जब पाठ के बौद्धिक विचारों से अनभिज्ञ जनता में उत्साह भर जाए। दर्शकों से भरी भीड़ अधिक एकाग्रता और जोश भर देती है। खुले मंच में अभिनेता दर्शकों के करीब होते हैं इसलिए उन्हें सुना और देखा जा सकता है। इस प्रकार दर्शक और कलाकारों द्वारा संयुक्त रूप में निर्मित और साझे गए कार्यक्रम के रूप में अभिनय को अच्छी तरह समझा जा सकता है। रंगमंच प्रस्तुति में स्थान की भी आवश्यकता होती है। रंगमंचीय प्रस्तुति की शैली के अनुसार स्थान की आकृति, आकार और प्रकार भिन्न हो सकते हैं। प्रत्येक नए दृश्य या प्रस्तुति के लिए स्थान को पुनः आकार प्रदान किया जा सकता है और पुनः परिशोधित किया जा सकता है। कई रंगमंचीय कलाकारों और सेवाओं का प्रयोग स्थान की व्यवस्था और आकार बनाने में किया जाता है।

रंगमंच का श्रवण वह तत्त्व है जो कथन, कविता, संगीत आदि के माध्यम से कानों को सुख प्रदान करता है। यह सीधा हमारे कानों तक जाता है। हालांकि शारीरिक क्रियाओं को आंखों से देखा जाता है परन्तु हमारी आंखें उन चेष्टाओं की भावनाओं को अधिक पकड़ती है। ध्वनि, आवाज़, संगीत और सार्थक मंच व्यवस्था का योग होने पर ही अभिनेता का शरीर सफल अभिव्यक्ति कर पाता है।

नाटक और रंगमंच

डॉ. रामजन्म शर्मा के अनुसार, ''नाटक रंगमंच को जन्म देता है और रंगमंच नाटक को जीवन। नाटक और रंगमंच एक-दूसरे के पूरक हैं। रंगमंच के अभाव में नाटक के दृश्य होने की कल्पना ही नहीं की जा सकती और नाटक दृश्यकाव्य से परे हो जाएगा। विश्व में जब-जब रंगमंच का उत्थान हुआ, नाटक का उत्थान हुआ है।''[20]

रंगमंच शब्द 'रंग' और 'मंच' दो शब्दों के मेल से बना है जहाँ रंग शब्द का अर्थ है नृत्य या नाच तथा मंच शब्द का अर्थ है ऊँचा बना हुआ मण्डप। अत: रंगमंच से तात्पर्य उस स्थान से है जहाँ पर रंगकर्मी अपनी अभिनय कला को नृत्य, नाटक, खेल आदि के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं। जहाँ एक ओर रंग का प्रयोग दृश्य को आकर्षक बनाने तथा अभिनेताओं की वेशभूषा एवं सज्जा से संबंधित है वहीं दूसरी ओर सहृदय की सहुलियत के लिए रंगमंच का तल फर्श से ऊँचा होता है जिसे मंच कहा जाता है।

नाटक जिसे दृश्य काव्य भी कहा जाता है एक अनुकरणात्मक कला है। साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है क्योंकि साहित्य के माध्यम से ही मानव मन की संवेदनाओं को अभिव्यक्त किया जाता है और इन संवेदनाओं को जनता तक पहुँचाने के लिए रंगमंच सबसे उत्तम साधन है। डॉ. सुरेन्द्रदेव शास्त्री

---

[20] शर्मा रामजन्म, स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक, पृ. 34

के अनुसार, 'दृश्यकाव्य में शब्दों के अतिरिक्त पात्रों की वेशभूषा, उनकी आकृति और भावभंगिमा तथा क्रियाओं के अनुकरण और भावों के अभिनय द्वारा दर्शकों को भावमग्न किया जाता है। यद्यपि ये काव्य पढ़े तथा सुने भी जा सकते हैं किन्तु इससे पूर्ण आनंद का अनुभव पाठक अथवा श्रोता को तब तक नहीं हो पाता जब तक रंगमंच पर उनका अभिनय नहीं कर दिया जाता है।' जब नाटक की उत्पत्ति हुई तभी रंगमंच का भी आविर्भाव हुआ। भरतमुनि द्वारा रंगमंच की कल्पना को 'नाट्यशास्त्र' में देखा जा सकता है।

यदि ऐसा कहा जाए कि नाटक और रंगमंच एक ही सिक्के के दो पहलू हैं तो अतिशयोक्ति नहीं होगी क्योंकि नाटक की पूर्णता का पता तभी चलता है जब वह रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाता है। इसीलिए नाटककार जब नाटक की रचना करता है तो उसके लिए रंगमंच का ध्यान रखना भी जरूरी हो जाता है। रंगमंच के अभाव में नाटक को पूर्ण रूप से सार्थक नहीं माना जा सकता। जब नाटक को रंगमंच पर कलात्मक रूप से प्रस्तुत किया जाएगा तभी सही मायने में उसका रसास्वादन सम्भव है। प्रस्तुति के दौरान हर प्रकार के दर्शक उसे प्रत्यक्ष रूप से ग्रहण कर सकते हैं। औचित्यपूर्ण रसास्वादन के लिए नाटक में नाट्य-कृति, प्रस्तुतीकरण और प्रेक्षक का समन्वय होना अति आवश्यक है। रंगमंच के माध्यम से नाटक को अनुभव करने पर दर्शकों की आनंद-प्राप्ति समेत पात्रों और स्थितियों का साक्षात्कार भी होता है। अतः नाटक की सार्थकता एवं

सफलता रंगमंच पर निर्भर करती है। रंगमंच, नाटक और अभिनय आपस में इस तरह जुड़े हैं मानो आत्मा और शरीर।

डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल के अनुसार, ''रंगमंच एक भाव है - एक अनुभूति है, जिसकी अपनी असीम व्यापकता और गहराई है। इसके मूलभाव और इसकी सम्पूर्ण प्रवृत्ति से ही मनुष्य जन्म लेता है।''[21] नेमिचन्द्र जैन ने रंगमंच के सन्दर्भ में अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है - ''रंगमंच कलात्मक अभिव्यक्ति का ऐसा माध्यम है जिसमें मनोरंजन का अंश अन्य कलाओं की तुलना में अपेक्षाकृत सबसे अधिक है। रंगमंच पर प्रदर्शित नाटक प्रेक्षकों का मनोरंजन करके ही संपूर्ण और सफल होता है और अपना उद्देश्य पूरा करता है।''[22] नाटक और उसकी रंगमंचीयता के सन्दर्भ में डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल का कहना है - ''रंगमंच की आत्मा नाटक अथवा नाटकीयता है और उसका सनातन धर्म प्रदर्शन है।''[23]

नाटक मनुष्य की भावात्मक एकता और मनोरंजन का सशक्त माध्यम है। वास्तव में नाटक के द्वारा ही रंगमंच का जन्म होता है जो कि आगे चलकर नाटक को जीवन और गति प्रदान करता है। इस तरह से नाटक और रंगमंच एक दूसरे के अभिन्न अंग है यानी हम नाटक और रंगमंच को एक दूसरे से अलग

---

21 लाल लक्ष्मीनारायण, रंगमंच और नाटक की भूमिका, पृ. 11

22 जैन नेमिचन्द्र, रंगदर्शन, पृ. 10

23 लाल लक्ष्मीनारायण, रंगमंच और नाटक की भूमिका, पृ. 14

नहीं कर सकते। नाटक की रचना करते वक्त नाटककार को रंगमंच की ओर ध्यान जरूर देना चाहिए क्योंकि रंगमंच के अभाव में कोई भी नाटक निष्प्राण-सा प्रतीत होगा। उपेन्द्रनाथ अश्क के मतानुसार, 'नाटक मुख्यतः खेलने की चीज है। इसे लिखते समय नाटककार के लिए रंगमंच की आवश्यकताओं का ध्यान रखना नितांत आवश्यक है।' रंगमंच की कसौटी पर परखने के पश्चात् ही नाटक की सफलता का पता चलता है।

रंगमंच का तात्पर्य किसी भी नाटक के वास्तविक प्रस्तुतीकरण से है। मंच, अभिनेता, पृष्ठभूमि, वेशभूषा, प्रकाश, ध्वनि प्रभाव और दर्शक के योग से रंगमंच बनता है। वास्तव में मंच, अभिनेता और दर्शक ही रंगमंच की बुनियादी जरूरत है। देखा जाए तो रंगमंच नाटककार, निर्देशक, शिल्पी, अभिनेता और कई अन्य लोगों का एक सामूहिक प्रयास है। रंगमंच के माध्यम से नाटक के कई अर्थ खुलकर सामने आते हैं। उदाहरण के लिए शेक्सपियर की 'मैकबेथ' को पढ़कर अनुभव करना तथा उसके मंचन को देखना दो भिन्न अनुभव हैं।

रंगमंच वह स्थान है जहाँ संगीतात्मक प्रस्तुति और नाटकों का मंचन होता है तथा दर्शकों का टिकट लेना अनिवार्य होता है।

रंगमंच सम्प्रेषण की एक नाटकीय कला है। सम्प्रेषण से तात्पर्य है अपने विचारों को दूसरों के समक्ष प्रस्तुत करना। रंगमंच मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। हम अपने आस-पास से कुछ-न-कुछ अनुभव हासिल करते चले जाते हैं फिर चाहे वह दृष्टि, श्रवण, गंध, स्पर्श या स्वाद के माध्यम से ही क्यों न हो। रंगमंच के

माध्यम से हम अपने विचारों को इस प्रकार व्यक्त करते हैं मानो हमने अपनी ही दुनिया में कुछ अनुभव किया हो। रंगमंच एक अनुभव है जो हमें कई चीजों से अवगत कराता है। जब अभिनेता अपने किरदार को निभाता है तब सहृदय उसमें इतना खो जाते हैं कि वे उस वक्त भूल जाते हैं कि वे नाटक देख रहे हैं और अपनी जिन्दगी से उसका सम्बन्ध जोड़ने लगते हैं। यह दर्शक और अभिनेता के बीच का बुनियादी संबंध है।

रंगमंच सूचनाप्रद एवं शिक्षाप्रद है। रंगमंच समाज के एक विस्तृत खण्ड तक पहुँच सकता है। यह मनुष्य के व्यवहार और दृष्टिकोण में बदलाव ला सकता है। यह समाज में सकारात्मक सोच व दृष्टिकोण के प्रति जागरूकता बढ़ाने के लिए एक सशक्त माध्यम है।

अभिनेता और दर्शक रंगमंच के मुख्य तथा अद्वितीय तत्त्व हैं। रंगमंच तभी संभव है जब अभिनेता और दर्शक आमने-सामने हो। समय और स्थान रंगमंच के मुख्य मानदण्ड हैं। थिएटर व टीवी, इंटरनेट जैसे अन्य मीडिया में मुख्य अन्तर भौतिक उपस्थिति की है। थिएटर कला का एक जीवित रूप है जहाँ अभिनेता प्रत्यक्ष रूप से दर्शकों के समक्ष मंच पर अभिनय कर रहा होता है।

भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' में नाटक को दृश्यकाव्य कहा गया है। यानी कि महाकाव्यात्मक कृति का प्रस्तुतीकरण। शास्त्रीय रंगमंच की तुलना में लोक रंगमंच के दर्शकों की संख्या अधिक होती है। यहाँ दर्शकों के साथ सीधा सम्पर्क होता है। अभिनेता अपने कर्म के माध्यम से अपने विचारों को प्रस्तुत करता है।

दर्शकों की भागीदारी लोक रंगमंच का अनिवार्य हिस्सा है। लोक रंगमंच मुख्य रूप से पौराणिक विषयों पर आधारित होते हैं परन्तु इसे अक्सर वर्तमान सामाजिक–राजनीतिक मुद्दों के सहारे बेहतर रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

वर्तमान समय में रंगकर्मियों का ज्यादा ध्यान 'अंतरंगता' और 'दर्शकों की भागीदारी' पर होता है जिससे कि अभिनेता और दर्शक के आपसी संबंध को और बेहतर किया जा सके। प्रस्तुति के दौरान अभिनेता मंच पर अभिनय कर रहे होते हैं जहाँ रोशनी की पूरी व्यवस्था होती है जबकि दर्शक मंच से एक निर्धारित दूरी पर अंधेरे में बैठे होते हैं।

रंगमंच अपने कथ्य को प्रस्तुत करने में सक्षम होता है। एक चित्रकार कैन्वस के सहारे अपने विचारों को प्रस्तुत करता है तथा एक संगीतकार संगीत के माध्यम से अपने विचारों को लोगों के समक्ष प्रस्तुत करता है। उपन्यास की रचना पढ़ने के लिए की जाती है जबकि नाटक का उद्देश्य केवल पाठकगण नहीं होते। एक नाटककार को इस बात का पता होता है कि जब तक उसकी रचना को निर्देशक, शिल्पी तथा कलाकार के सफल प्रयास से मंच पर खेला नहीं जाएगा तब तक उसे उचित रूप में ग्रहण नहीं किया जाएगा। वास्तव में सच्चे पाठक तो ये लोग ही होते हैं क्योंकि अपनी कला के माध्यम से ये लिखित पाठ को दर्शक के समक्ष प्रभावी रूप में प्रस्तुत करते हैं जिसे देखकर और सुनकर सहृदय कुछ वक्त के लिए स्वयं को भूल जाता है।

भारतीय संस्कृति में नाटक का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। चाहे संगीत, नृत्य या फिर नाटक की बात की जाए तो भारत हमेशा से ही कला प्रेमियों के लिए स्वर्ग रहा है। लेकिन शायद नाटक को संगीत तथा नृत्य से एक पायदान ऊपर रखना उचित होगा क्योंकि नाटक में हमें कला के ये दोनों ही रूप देखने को मिल जाते हैं। भरतमुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' के एक पाठ विशेष में नाटक के विभिन्न पहलुओं की विस्तृत चर्चा की है।

नाटक और रंगमंच में मुख्य अन्तर यह होता है कि नाटक लिखित पाठ के रूप में होता है तथा रंगमंच में उसकी प्रस्तुति होती है। हालांकि नाटक और रंगमंच में एक ही कहानी को प्रस्तुत किया जाता है परन्तु नाटक में यह कहानी कागज पर मौजूद होती है तथा थिएटर पर यही कहानी मंच पर खेली जाती है। इन दोनों में एक ही विषय को कवर किया जाता है परन्तु बुनियादी तौर पर नाटक के लिखित रूप और खेले गए संस्करण में अन्तर होता है।

प्रस्तुतीकरण हमेशा आकर्षक और अर्थपूर्ण होना चाहिए जिसमें प्रकाश, पात्र, निर्देशक ओर डिज़ाइनर के रूप में कई कारक शामिल होते हैं। प्रस्तुति-प्रक्रिया में शामिल सभी लोगों का अपना-अपना नज़रिया होता है जिसके द्वारा वे अपने अनुसार आवश्यक परिवर्तन कर उसे पाठ्य रूप से उठाकर मंच पर प्रस्तुत करते हैं।

आम तौर पर नाटकीय प्रस्तुति के तुलना में नाटक अधिक लम्बे और विस्तृत होते हैं। नाटक और रंगमंच में महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि नाटक में

पाठक और लेखक की सीधी बातचीत शामिल होती है जबकि रंगमंच को कलाकार की आवश्यकता पड़ती है जिसके माध्यम से मुख्य कर्म को दर्शकों के लिए मंच पर उतारा जाता है।

इस प्रकार प्रस्तुत भाग में हमने नाटक और रंगमंच के अर्थ और स्वरूप को बारीकी से समझा। इनकी उत्पत्ति की चर्चा करते हुए विभिन्न तत्त्वों की भी चर्चा की। नाटक और रंगमंच के संदर्भ में अध्ययन करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नाटक और रंगमंच को एक साथ ही समझा जा सकता है क्योंकि ये दोनों एक दूसरे के अभिन्न अंग हैं। नाटक और रंगमंच को एक ही सिक्के के दो पहलू कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी क्योंकि नाटक के द्वारा ही रंगमंच का जन्म होता है और यही आगे चलकर नाटक को जीवन और गति प्रदान करता है।

मणिपुरी रंगमंच का काल विभाजन

पूर्वी तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य भागों की तरह पारम्परिक रंगमंच अभी भी मणिपुर के निवासियों के जीवन का एक अभिन्न अंग है। सांस्कृतिक परम्परा के रूप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलते रहने के कारण यह लोगों की चेतना से जुड़ा हुआ है। इसका अध्ययन सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक परिवेश के अन्तर्गत किया जाता है जिसने इसके इतिहास को आकार दिया है। लोगों के लिए पारम्परिक रंगमंच एक बहुत पुरानी विरासत के रूप में अर्थ सम्प्रेषित करता है। यह एक विशिष्ट प्रकार के आकार, रूप तथा रिवाज का मिश्रण है जिसका विकास और पोषण इतिहास के एक काल विशेष में होने के बावजूद भी गतिशील और प्रगतिशील रहा। प्रारम्भिक रूप में थिएटर यानी रंगमंच की संरचना शारीरिक गतिविधि, नृत्य, गीत, संगीत, प्रतीकात्मक मुद्राओं, मूकाभिनय पर आधारित थी जिसका पाठ या कथन से कोई सरोकार नहीं था। जनता पारम्परिक रंगमंच के वास्तविक अवधारणा से भली-भाँति परिचित थी। देशी सभ्यता के अन्तर्गत रंगमंच की पुरानी अवधारणा या समझ खेल, धार्मिक कृत्य, समारोह या अनुष्ठान आदि के रूप में ही हुआ करती थी। मुख्य रूप से यह माना जाता है कि सम्भवतः मानव अस्तित्व का अर्थ तथा उद्देश्य व्यक्त करने वाले कर्मकाण्डों का प्रदर्शन ही आगे चलकर वास्तविकता में रंगमंच के रूप में विकसित हुआ। इन धार्मिक अनुष्ठानों का बार-बार प्रदर्शन होता तथा इन्हें वास्तविक अभ्यास के माध्यम से संरक्षित किया गया। समय के साथ चलते गए अभ्यास ने इसे परिपक्व रूप में विशिष्ट संहिता, देशज पहचान तथा गुण की परम्परा प्रदान की।

मणिपुरी पारम्परिक रंगमंच के विकास के चरण

मणिपुरी रंगमंच ने कई चरणों का अनुभव किया है तथा प्रत्येक चरण ने कला प्रदर्शन के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण तत्त्व प्रदान किए हैं। विस्तृत रूप में मणिपुर के सांस्कृतिक इतिहास को कुछ इस प्रकार विभाजित किया जा सकता है–

मणिपुर के स्वदेशी लोगों के सामाजिक–सांस्कृतिक इतिहास की शुरुआत 33वीं ईस्वी से 18वीं शताब्दी तक मानी जाती है जिसे सांस्कृतिक रूप से पूर्व–हिन्दू काल के नाम से जाना जाता है तथा इसके बाद की अवधि को हिन्दू काल कहा जाता है। इस हिन्दू काल को भी दो भागों में विभाजित किया जाता है – 18वीं से 20वीं शताब्दी तथा 20वीं शताब्दी से अब तक। पूर्व हिन्दू अवधि कुटुम्बी समाज द्वारा व्यवहृत जीवन चक्र, कृषि उत्सव, उर्वरता, पूर्वजों की महिमा गान तथा शांति अनुष्ठान पर केन्द्रित अत्यधिक धार्मिक संस्कार की प्रस्तुति से ही फला–फूला है। पूर्व हिन्दू अवधि की सबसे महत्त्वपूर्ण प्रस्तुति 'लाई हराओबा' है जो कि आज भी मितै समाज में खेला जाता है।

हिन्दुत्व के आविर्भाव तथा राज्य के तीव्र समेकन के परिणामस्वरूप बदलते सामाजिक ढाँचे के साथ ही दूसरा ऐतिहासिक चरण आया। राजदरबार के प्रतिपालन से ही बहुत से दरबारी रंगमंच का विकास हुआ। नवीन कला रूपों के निर्माण हेतु संस्थाएँ स्थापित की गई। प्रख्यात गुरुओं को काम पर रखा गया जिससे कि वे नट–संकीर्तन, रासलीला, महाकाव्य अनुवाचन आदि कलाओं की खोज कर सकें। राजदरबारी परिवार से शुरु होने वाली लौकिक चित्रकथाएँ तथा

प्रहसन 12वीं शताब्दी के मध्य दौर में काफी लोकप्रिय हो गए। दरबार ने रंगमंच का समर्थन किया तथा धीरे-धीरे यह चलन में आया। उदाहरण के लिए नट-संकीर्तन कई संस्कारों (अनुष्ठानों) में अनिवार्य बन चुका था और इसी प्रकार बाकी रूपों को भी धीरे-धीरे धार्मिक समारोह-उत्सव आदि में शामिल किया जाने लगा।

तीसरा ऐतिहासिक चरण ब्रिटिश साम्राज्यवाद और मणिपुर के राजनीतिक समेकन से सम्बद्ध 'फागी लीला' के विकास के साथ आया। साम्राज्यवादी संस्कृति से प्रभावित होकर प्रोसिनियम थिएटर नामक एक नए प्रकार के लौकिक रंगमंच का विकास हुआ। इसकी शुरुआत बांग्ला से अनूदित नाटकों से हुई। चौथा चरण प्रयोगवादी नाटकों के रूप में 1970 के दौर में उभर कर आया।

रंगमंचीय प्रस्तुतियों ने पृथक् रूपों में भी एक-दूसरे को पारस्परिक रूप से प्रभावित किया। ऐतिहासिक रूप से 'लाई हराओबा' को संरचना में डाला गया तथा रासलीला का वर्गीकरण किया गया। इसने पूर्व हिन्दू धर्म को लाकर सामने प्रस्तुत कर दिया जो कि कुदरती रूप से विरोध और ग्रहण दोनों की क्षमता रखता है। रासलीला और नट-संकीर्तन एक तरह से समकालिकता के प्रतीक थे। आगे चलकर प्राकृतिक रूप से देशी तत्त्व तथा अंदाज में वैष्णव धर्म के पाठ को आधार बनाया गया।

मुख्य रूप से यदि आकार की बात की जाए तो 'लाई हराओबा' ने गोष्ठलीला, कालियदमन जैसी कई हिन्दू प्रस्तुतियों को स्रोत प्रदान किया है।

क्रियात्मक संरचना, सिद्धांत और ग्रन्थों के परीक्षण द्वारा नाट्यधर्मी एवं लोकधर्मी के वर्गीकरण में कठिनाई का पता चला। इस प्रकार परम्परागत रंगमंच ने न केवल जनसाधारण के बारे में जानकारी दी बल्कि यह 18वीं से 20वीं शताब्दी के नाट्य रूपों का भी द्योतक है जिससे शास्त्रीय प्रतिष्ठा से जुड़ी प्रस्तुति की रचना हुई।

परम्परागत रंगमंच को आकार प्रदान करने में दो प्रकार की संस्कृतियों के मिश्रण का व्यक्तिगत तथा संयुक्त रूप में योगदान रहा है। यह कहना बिल्कुल सार्थक होगा कि मणिपुरी रंगमंच के विकास में मणिपुर की देशज संस्कृति तथा हिन्दू संस्कृति, जो कि बाहर से आई, का महत्त्वपूर्ण योगदान स्पष्ट रूप से लोक परम्परा की महाकाव्यात्मक, धार्मिक तथा साहित्यिक चक्र से जुड़ी प्रदर्शनों की सूची का उपयोग किया जाता था। भगवान कृष्ण की कहानियों तथा उनके जीवन चक्र पर आधारित गौड़ीय वैष्णव के दर्शन ने जबरदस्त सफलता पाई। उदाहरण के लिए, आज विश्वभर में मणिपुर की रासलीला प्रसिद्ध है, परन्तु रासलीला का मूल स्थान भगवान कृष्ण की जन्मभूमि वृन्दावन है। भारत में आज तक जितनी भी रासलीला का प्रदर्शन हुआ है उनमें से मणिपुर की रासलीला अपनी विशिष्टता के चलते पूरे विश्व भर में एक ट्रेडमार्क बना चुका है।

नृत्य और संगीत की दृढ़ उपस्थिति मणिपुर के पारम्परिक रंगमंच के लिए एक परिसम्पत्ति थी। वाद्य संगीत विन्यास का मूल देशी ही था। हाथ, पैर और शरीर का रूप-विन्यास, गति तथा भाव प्रदर्शन काफी बारीक और पेचीदा होते हैं

तथा प्रत्येक हरकत अप्रत्यक्ष अर्थ को व्यक्त करती है। प्रदर्शन मुख्य रूप से मिथकों, किंवदन्तियों और मिथै विश्वदृष्टि से प्रभावित है। मणिपुरी नृत्य थिएटर स्वदेशी तथा आयातित दोनों प्रकार के विषय तथा कहानी स्रोतों का बहुलता उपयोग करता है। हालांकि क्षेत्र में लोक कथाएँ प्रचलित हैं परन्तु स्वदेशी जनजातीय रंगमंच में राजा, शक्ति तथा ब्रह्माण्ड-विज्ञान से संबंधित विषयों को छोड़कर अन्य विषय अपनी पैठ न बना पए। देखा जाए तो पूर्व-हिन्दू तथा उत्तर-हिन्दू काल दोनों में ही लोक कल्याण भाव से देवी-देवताओं और पूर्वजों को प्रसन्न करने की मानवीय चेष्टाएँ परम्परागत मणिपुरी रंगमंच का आवर्ती विषय है।

डांस थिएटर में नृत्य और संगीत के संयोजन के माध्यम से प्रस्तुति (अभिनय) की विषय-वस्तु और सारांश को व्यक्त किया जाता है। अभिनय कौशल, संवाद अदायगी, वेशभूषा आदि जैसे नानाविध अवयव प्रादेशिक सांस्कृतिक परम्परा की ही देन है। हालांकि विस्तार और परिष्करण के धरातल पर डांस थिएटर की रीति भिन्न होती है। कुछेक रूपों में तो बहुत ही कम संवाद होते हैं क्योंकि वे पूर्णतः नृत्य और आंगिक चेष्टाओं पर निर्भर होते हैं तथा इनमें संगीत, वेशभूषा, प्रतीक और हाव-भाव की बहुलता रहती है। थिएटर के कुछ रूपों में तो राग और पाठ के माध्यम से संगीत बिखेरा जाता है। गौर लाला (चैतन्य के नाटक) और गोष्ठलीला (गायों के रखरखाव) में अन्य अभिनय तत्त्वों के साथ सम्मिश्रित रूप से पर्याप्त मात्रा में संवाद होते हैं।

हिन्दू धर्म के आने के बाद से पूर्व-हिन्दू 'लाई हराओबा' तथा 'फागी लीला' जैसे लौकिक रूपों के साथ नट-संकीर्तन, रासलीला, गोष्ठलीला, गौरलीला आदि वैष्णव रंगमंच रूपों का भी विकास हुआ। स्थान के विस्तार के अनुसार हिन्दू रंगमंच रूपों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है - (i) मंडप रूप तथा (ii) गैर-मंडप रूप। हालांकि कुछ रूपों का अभिनय मंडप और खुले में दोनों ही रूपों में होता था। मंडप आधारित पारम्परिक हिन्दू रंगमंचीय अभिनय के अन्तर्गत नट-संकीर्तन, नृत्य एवं संगीत पर आधारित रासलीला के पाँचों प्रकार, गैर लीला, कंसवध आदि आते हैं जिनमें अभिनय, संवाद, नृत्य एवं संगीत पर अधिक जोर दिया जाता है। गोष्ठलीला की शुरुआत मंडप से होती है परन्तु इसका उत्तरार्द्ध खुले में होता है जो कि पर्यावरण रंगमंच का द्योतक है। 'कालियदमन' नाटक विशुद्ध रूप से कृष्ण के पर्यावरण लीला का एक रूप है जिसमें कृष्ण द्वारा काली नामक नागिन का दमन दिखाया जाता है।

रंगमंच के विकास के तीसरे चरण से फागी लीला जैसे लौकिक रूपों के विकास का पता चलता है जो कि वैष्णव परम्परा पर निर्भर नहीं है। एकल प्रदर्शन के रूप में अभिनेता फागी लीला या हास्य कृत्यों का प्रदर्शन करता है। योत्शूबी, अमूथोई, पङ्गन्बा, चेङ्बा जैसे कई दिग्गज कलाकार हैं जो फागी लीला के लिए जाने जाते हैं। दो से तीन कलाकार मिलकर रोल प्ले के माध्यम से अभिनय करते हैं। फदिबी पाला और काबुल पाला में सर्वाधिक लोग शामिल होते हैं जिसमें रईसों और उच्च वर्गों पर लक्ष्य साधा जाता है। प्रचलित शैलियों

के प्रभाव से नई शैलियों का विकास हुआ जिसके अन्तर्गत औपनिवेशिक प्रभाव के तहत शुमाङ लीला, मोइराङ पर्व (मोइराङ पाठ), खोङजोम पर्व (खोङजोम गाथागीत), पेना फमशक (लौकिक पेना प्रस्तुति) तथा अग्रमंच आते हैं।

हिन्दू धर्म का आविर्भाव और मणिपुर के पारम्परिक रंगमंच पर इसका प्रभाव

हिन्दू धर्म के आविर्भाव के साथ ही मणिपुर के सांस्कृतिक नींव पर बहुत बड़ा परिवर्तन आया। मणिपुरी नृत्य, साहित्य, वास्तुकला, गीत, संगीत और नाटक जैसे कला रूपों पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। अधिकतम उत्तर-हिन्दू रंगमंचीय अभिनय की मानसिकता देशज परम्परा के संश्लेषण या परिपाक के ईद-गिर्द ही थी। इसने साहित्यिक, प्रसिद्ध और ऐतिहासिक सामग्री के विशाल कोष के रूप में विस्तृत विश्वदृष्टि प्रदान की और तत्कालीन प्रदर्शनों की सूची को समृद्ध किया। एक नवीन सत्व के आ जाने से एक नवीन दर्शन ने भी प्रवेश किया। जिसके तहत प्रचलित संस्कृति का परिष्कार हुआ तथा उस दर्शन के रूप में प्रस्तावित किया गया जो कि मणिपुर के उत्तर-हिन्दू पारम्परिक अभिनय में साफ़ नज़र आता है।

मणिपुर में हिन्दू धर्म के आगमन से समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा। इसने जीवन के प्रत्येक पहलुओं को छुआ जिससे सम्पूर्ण मितै समाज की आस्था, धार्मिक कृत्य, रीति-रिवाज तथा परमपरा प्रभावित हुई। एक समय ऐसा भी आया जब हिन्दुत्व का विस्तार सदियों पुरानी परम्परा के अस्तित्व पर खतरे की तरह

मंडराने लगा था। पुराने धर्म ने जबावी कार्रवाई की परन्तु प्रतिकूल धर्म के आक्रमण के सामने टिक न पाया क्योंकि उसे राजाओं की शक्ति, हुकूमत और देवत्व का पूर्ण समर्थन था। स्थानीय विद्वानों ने अपने लेख के माध्यम से मणिपुर में हिन्दुत्व के आगमन तथा विस्तार पर आधारित प्रश्नों के सन्दर्भ में विभिन्न मत प्रस्तुत किए। उन्होंने कहा कि विष्णु की पूजा की शुरुआत तो राजा क्याम्बा के शासनकाल (1467 ई. से 1508 ई.) से ही चल रही है।[24] इससे पहले कई विद्वानों ने प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर मणिपुर में शैव, शाक्त तथा तांत्रिक जैसे हिन्दू धर्म-सम्प्रदाय के प्रचार का दावा किया है।[25] परन्तु 15वीं शताब्दी से पूर्व नए धर्म के प्रचार में किसी भी प्रकार के शाही प्रश्रय को उजागर करने में मणिपुरी परम्परा के ऐतिहासिक विवरण विफल रहे।

आमतौर पर यह माना जाता था कि पोंग (ऊपरी बर्मा, वर्तमान में म्यांमार) के शासक चोफा खेक खोम्ब ने मणिपुर के राजा क्याम्बा को दोस्ती के प्रतीक रूप में एक विष्णुचक्र उपहार में दिया था।[26] कथा द्वारा इनकी रोचक दोस्ती, साथ में उठना-बैठना तथा कई सांस्कृतिक वस्तुओं के आपस में आदान-प्रदान का पता चलता है। परन्तु जिस विष्णु चक्र की बात की जा रही है

---

24 एल इबुङोहल तथा एन. खेलचन्द्र सिंह, चैथारोल कुम्बाबा, इम्फाल : मणिपुरी साहित्य परिषद, 1966, पृ. 9-10 और शर्मा चित्रेश्वर, मणिपुर दा वैष्णव पूजा हउबा, इम्फाल : मणिपुरी साहित्य परिषद, 1987, पृ. 8-15

25 सिंह नीलकान्त एलाङ्बम, 'अरीब मणिपुरगी संस्कृति अमशुङ तंत्र शास्त्र', वाखल - दूसरा लेक्चर, इम्फाल, 1979, पृ. 16-17

26 कामै गाङमुमै, 'मणिपुर अमशुङ पोङ', खोङथाङ, इम्फाल, 1974, पृ. 28-30

उसका वास्तविक आकार और साँचा किसी भी पौराणिक ग्रंथ में दर्ज नहीं है। हालांकि कुछ विद्वानों ने इसे अंडाकार पत्थर का ताबूत माना जो कि लमानदोङ (विष्णुपुर) में एक मंदिर के निर्माण के पश्चात् स्थापित किया गया।[27] पारम्परिक विद्वानों के एक स्कूल ने 15वीं शताब्दी को प्रवासी ब्राह्मणों द्वारा विष्णु पूजा के बीजारोपण के लिए महत्त्व दिया। जिसने शुत्तीनारायण, भवानीनाथ [28] या भानुनारायण[29] के रूप में विष्णु पूजा आयोजित की उनके सन्दर्भ में विद्वानों ने विभिन्न मत रखे। 17वीं तथा 18वीं शताब्दी के दौरान भारी संख्या में ब्राह्मणों के आप्रवासन तथा मणिपुर में बस जाने का पता चलता है। डॉ. एम. कीर्ति सिंह के अनुसार राय बनमाली ने चराइरोम्बा को वैष्णव मत अपनाने के लिए प्रेरित किया।[30]

राज्य में हिन्दू धर्म का आविर्भाव होने के बाद 18वीं शताब्दी के मध्य में धार्मिक तथा सामाजिक उथल-पुथल के परिणामस्वरूप वैचारिक परिवर्तन हुआ और राज्य में एक नई धार्मिक-कृत्य पद्धति का पालन किया जाने लगा। राजा ने लम्बे समय से चल रहे सामाजिक तथा राजनीतिक उथल-पुथल को शांत करते

---

27 सिंह सनाहल आर. के., 'मणिपुर दा वैष्णव धर्म गी ईहउ', मणिपुर राज्य हिन्दू सम्मेलन स्मारिका, इम्फाल, 1981

28 ए. मीनकेतन, 'मणिपुर दा वैष्णव धर्म', मणिपुर राज्य हिन्दू सम्मेलन स्मारिका, इम्फाल, 1981

29 सिंह सनाहल आर. के., 'मणिपुर दा वैष्णव धर्म गी ईहउ', मणिपुर राज्य हिन्दू सम्मेलन स्मारिका, इम्फाल, 1981

30 सिंह कीर्ति एम., 'रिलिजस डेवलपमेंट इन मणिपुर इन दि 18 एंड 19 सेंचुरीज, इम्फाल : मणिपुर स्टेट कला आकादमी, 1981, पृ. 120-122

हुए गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय को चुना, राज्य के लिए नया समझौता रखा जिसके तहत पूर्व-हिन्दू पारम्परिक विश्वास प्रणाली को अलग नहीं होने दिया। इस महान् संश्लेषण से ही मणिपुरी नट-संकीर्तन और रासलीला का सृजन हुआ।

गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के माध्यम से मणिपुर की घाटी में कृष्ण संस्कृति काफी महत्त्वपूर्ण हो गई। सृजनात्मक संवादजन्य संयोग से नट-संकीर्तन, रासलीला, गौर लीला, गोष्ठलीला तथा उदुखोल जैसे उत्कृष्ट हिन्दू परम्परा जन्य मणिपुरी रंगमंच रूप उभरकर आए।

राज्य का धर्म-परिवर्तन होने के पश्चात् हिन्दू अभिनय रूपों के प्रचार में मणिपुर की बदलती संस्कृति का परिदृश्य काफी स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित हो रहा था। राज्य के उपजाऊ पर्यावरण तथा कल्पनाशील मानसिक व आध्यात्मिक स्थल पर दुनिया के महान् धर्म का वैचारिक आक्रमण वास्तविक समाज की आधारभूत क्रिया-कलाप को व्यक्त करता है। कई गौण हिन्दू अभिनय रूपों जैसे गौर लीला, गोष्ठलीला, उदुखोल, खोङ्जोम पर्व, मोइराङ पर्व, फागी लीला तथा शुमाङ लीला आदि का विकास हुआ। 18वीं शताब्दी से लेकर उसके बाद के समय में इन अभिनय रूपों में ज्यादातर महिलाएँ ही प्रभावशाली रूप में उभर कर आईं। यद्यपि हिन्दुत्व के पश्चात् हुए सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक परिवर्तनों के चलते सामंती पदानुक्रम पर बल दिया गया तथापि मणिपुर के पूर्व-औपनिवेशिक राज्य ने सभ्यता में एक प्रतिष्ठित दर्जा प्राप्त किया तथा नैतिक व्यवस्था में निपुणता पाई। ब्रिटिश साम्राज्यवादी सत्ता तथा नव-संचालक शक्ति ने इस

प्रतिष्ठित राज्य को तबाह कर दिया। साथ ही अलगाव और दरार की स्थिति से जन्य एक ऐसा समाज लाकर खड़ा कर दिया जहाँ कला का अस्तित्व अनिश्चित था।

20वीं सदी के पहले दशक के शुरुआती वर्षों में 'मणिपुर फ्रेण्ड्स ड्रमेटिक यूनियन' के रूप में मणिपुर का पहला स्थायी थिएटर अस्तित्व में आया। धीरे-धीरे 'मणिपुर ड्रमेटिक यूनियन' (1930), आर्यन थिएटर (1935), चित्रांगदा नाट्य मंदिर (1936), सोसायटी थिएटर (1937), रूपमहल थिएटर (1942), कॉस्मोपोलिटन ड्रमेटिक यूनियन (1968), कलाक्षेत्र (1969) और कोरस रेपर्टरी थिएटर (1976) अस्तित्व में आए। इन थिएटर समूहों ने ऐतिहासिक तथा पौराणिक धारा से हटकर नाटकों के विभिन्न प्रकारों के साथ प्रयोग शुरु किए।

शुमाङ लीला का मुख्य उद्देश्य लोगों का मनोरंजन करना होता है जिससे कि वे अपनी रोजमर्रा की जिन्दगी के तनाव और चिंताओं को भूल जाते हैं। परन्तु दूसरी ओर ये स्थानीय तथा अंतर्राष्ट्रीय मुद्दों से जुड़कर लोगों में जागरूकता फैलाने की भारी जिम्मेदारी का भी वहन करते हैं।

हालांकि 20वीं सदी के प्रारम्भिक दौर में आधुनिक मणिपुरी रंगमंच अस्तित्व से आया परन्तु काफी समय तक इसमें किसी प्रकार की कायापलट का अनुभव नहीं किया गया। कन्हाइलाल और रतन थियाम के आगमन से मणिपुरी रंगमंच को दिशा मिली। एक ओर जहाँ उन्होंने आधुनिकता को स्वीकार किया वहीं दूसरी ओर अपनी परम्पराओं को भी काफी सावधानी से सहेज कर रखा।

रतन थियाम के निर्देशन में 'चक्रव्यूह', 'इम्फाल-इम्फाल', 'उरुभंग', 'अंधायुग', 'कर्णाभरम' और 'आषाढ़ का एक दिन' जैसे नाटकों की प्रस्तुति व सराहना हुई। जहाँ एक ओर देश के अधिकांश क्षेत्रीय थिएटर आधुनिकता को अपनाने के प्रयास में होड़ मचाए कोशिश कर रहे थे, मणिपुरी रंगमंच ने अपनी परम्परा से जुड़े रहकर काफी लाभ उठाया।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि एशिया के अधिकतम भाग और भारत की तरह मणिपुरी रंगमंच का विकास भी देवी-देवताओं को प्रसन्न करने की परंपरा से शुरू होते हुए समय के साथ हुआ। मणिपुरी रंगमंच का प्रारंभिक रूप पूजा-अनुष्ठानों के रूप में मिलता है और शुरुआत में लौकिक रूप ही प्रचलित था। ब्रिटिश शासन के दौरान प्रोसिनियम थिएटर का आगमन हुआ। हिन्दू धर्म के आविर्भाव से यहाँ का रंगमंच भी प्रभावित हुआ। सन् 1960 के बाद ही मणिपुरी रंगमंच में वास्तविक रूप से बदलाव आया। केवल विषय-वस्तु ही नहीं बल्कि बाकी दृष्टियों से देखा जाए तो भी मणिपुरी रंगमंच में नए-नए प्रयोग किए जाने लगे।

प्रारम्भिक दौर

पिछले अध्याय में हमने मणिपुरी रंगमंच के इतिहास के विषय में पढ़ा और मणिपुरी रंगमंच से जुड़े कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों को समझा। प्रस्तुत अध्याय मणिपुरी रंगमंच के नाट्यालेख पर आधारित है जहाँ हम मणिपुरी रंगमंच के प्रारंभिक रूपों की चर्चा करते हुए मणिपुरी नाटकों के मंचन की शुरुआत पर आएँगे। जैसा कि हम इस तथ्य को भली-भाँति जानते हैं कि नाटकों की शुरुआत लौकिक परंपरा से होती है। अतः यहाँ प्रारंभिक दौर के अन्तर्गत हम मणिपुरी समाज के पारंपरिक रंगमंच जैसे - लाई हराओबा, नट संकीर्तन, रासलीला, गोष्ठलीला, मोइराङ पर्व, खोङजोम पर्व, शुमाङ लीला आदि पर चर्चा करेंगे।

लाई हराओबा

मितै समाज में लाई हराओबा पारम्परिक रंगमंच का प्रारम्भिक रूप माना जाता है। इसका विकास मितै समाज के विकास से जुड़ा हुआ है। लाई हराओबा

विश्वोत्पत्ति की जानकारी तथा जनता की खुशहाली के लिए विभिन्न सामाजिक तथा धार्मिक कृत्य, शक्ति तथा प्रेरणा के जरिए प्रस्तुत की जाने वाली सांस्कृतिक घटना है। इसमें अभिनय के माध्यम से विश्व तत्त्व के सत्य को प्रस्तुत किया जाता है, जहाँ मनुष्य एकजुट होकर देवी-देवताओं को प्रसन्न करने का प्रयास करते हैं। पूर्व-हिन्दू मितै समाज में आस्था और रीति-रिवाज को संस्थागत कर दिया गया। परिणामस्वरूप सबसे प्राचीन धार्मिक कृत्य लाई हराओबा का जन्म हुआ। यह मितै लोक साहित्य के नृत्य, रीति-रिवाज और मिथक का अद्वितीय मिश्रण है। लाई हराओबा तीव्रीकरण का एक ऐसा अनुष्ठान है जो कि समाज की समृद्धि के लिए बार-बार किया जाता है। इस अनुष्ठान में ब्रह्माण्ड तथा सृष्टि की रचना को अभिनीत किया जाता है ताकि जनता को यह अहसास हो कि शुरुआत में इनकी रचना किस प्रकार हुई। इस याद में देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए लाई हराओबा उत्सव मनाया जाता है तथा बदले में लोगों को समृद्धि तथा आशीर्वाद मिलता है।

लाई हराओबा के अर्थ के विषय में विभिन्न विद्वानों तथा लेखकों ने अलग-अलग व्याख्या की है। जे. शेक्सपियर के अनुसार देवी-देवताओं को खुश करना लाई हराओबा कहलाता है।[31] लुईस लाइटफुट ने आत्माओं को खुश करने

---

[31] Col. J. Shakespear, The Riligion of Manipur in Folklore, Vol. XXIV no. IV, December, (Culcutta : Folklore Society, 1913) p. 428

को लाई हराअेबा कहा।[32] टी. सी. हड्सन ने देवताओं के आनंदित होने को लाई हराओबा कहा।[33] एलाङ्बम नीलकान्त ने देवी-देवताओं के उत्सव को लाई हराओबा कहा।[34] हालांकि एस. एन. पराट[35] देवी-देवताओं के सक्रिय रूप का प्रयोग करने से इन्कार करते हैं तथा जे. शेक्सपियर द्वारा प्रयुक्त देवी-देवताओं को खुश करने की बात का समर्थन करते हैं।

आज तक ऐसा कोई ऐतिहासिक प्रामाणिक सबूत उपलब्ध नहीं है जिससे यह पता चल सके कि लाई हराओबा कब और कैसे शुरु हुआ। लाई हराओबा की व्युत्पत्ति के सन्दर्भे में परम्परागत विद्वानों के अलग-अलग विचार हैं। पहले वर्ग[36] के अनुसार लाई हराओबा का आरम्भ कौब्रू पर्वत की चोटी पर हुआ था जिसमें देवी-देवताओं द्वारा इस सृष्टि की रचना का ज़िक्र है। परम्परागत विद्वानों का दूसरा वर्ग यह मानता है कि लाई हराओबा का आरम्भ लोङ्माई पर्वत (जो कि नोङ्माईचिङ पर्वत के नाम से जाना जाता है) पर हुआ था। यह दृष्टिकोण मितै मूल ग्रन्थ के एकमात्र विश्वस्त सूत्र ''पानथोङ्बी खोङ्गुल''[37] पर आधारित

---

32 Louise Lightfoot, Dance rituals of Manipur, (Hong Kong : The Standers Press, 1958) p. 12

33 Hudson T. C., The Meitheis, (Delhi : B. R. Publishing Corporation, reprint in India, 1975) p. 104

34 E. Nilkanta, Aspects of Indian Culture, (Imphal : Jawaharlal Nehru Manipur Dance Academy, 1982) p. 36

35 Paratt Saroj Nalini & Paratt John, the Pleasing of Gods : Meitie Lai Haraoba, (New Delhi : Vikas Publishing House Pvt. Ltd., 1997), p. 175-176

36 एन जी कुलचन्द्र, वाहेङ्बम लुखोई, खुलेम चन्द्रशेखर जैसे विद्वान

37 मोइराङ्थेम चन्द्र सिंह, पानथोइबी खोङगुल, (इम्फाल : मणिपुर साहित्य परिषद्, 1963, reprint 1999)

है। कई परम्परागत विद्वानों ने लाई हराओबा की व्युत्पत्ति को लैसेम्ब मिथक से जोड़ा है जहाँ 'लै' से तात्पर्य है धरती तथा 'सेम्ब' से तात्पर्य है सृष्टि की रचना। उन्होंने पुराण में व्यक्त लाई हराओबा के मूल स्रोत 'लाई होई लाउबा' का समर्थन किया जिसका तात्पर्य देवी-देवताओं को प्रसन्न करना है।[38]

सृजन मिथक के अनुसार, अपने पिता अतिया गुरु सीदबा (अनश्वर पिता आकाश) के उपदेश पर असीबा (सनामही) ने पृथ्वी की रचना तो कर दी परन्तु मानवजाति के निर्माण को लेकर वे दुविधा में थे। चूंकि अतिया गुरु सीदबा स्वयं इस कायनात के प्रतीक थे अतः उन्होंने अपना मुँह खोला और सभी जीवित प्राणियों के दर्शन कराए। असीबा के 'होय' चिल्लाने से जीवित प्राणी बाहर निकल आए। इसे 'लाई होइ लाउबा' कहा जाता था जो कि लाई हराओबा का केन्द्रीय भाव है।[39] कई कमियों के बावजूद भी विद्वानों ने इस सिद्धांत को लोकप्रिय बनाया।

लाई हराओबा की खोज रॉक पेंटिंग, पारम्परिक वास्तुकला, मिट्टी के बर्तनों या साहित्यिक अवशेषों पर हुई जैसे महत्त्वपूर्ण साक्ष्य की खोज जारी है। अपनी संस्कृति की रूप-रीति के चलते यह असम्भव है क्योंकि इसकी सभ्यता में लकड़ी तथा बाँस का प्राधान्य रहा है जो कि नाजुक होते हैं। अतः लाई हराओबा के प्रमाण स्रोत रूप में हमें पुराण तथा पर्याप्त मौखिक परम्परा ही मिलते हैं।

---

38 Singh Moirangthem Khandra, "forward" in Ng. Kullachandra (Ed), Meitei Lai Haraoba, (Imphal : Unique Printing networks, 1963, reprint 1998)

39 Ng. Kullachandra, Meitei Lai Haraoba, (Imphal : Unique Printing networks, 1963) p. 1

लाई हराओबा के सूत्र बाकायदा लिखित रूप में कभी भी सहेज कर नहीं रखे गए परन्तु मौखिक परम्परा के रूप में यह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को प्रेषित होती गई। इतने सालों से लाई हराओबा की मौखिक परम्परा को सम्भाल कर रखने का श्रेय अमाइबा (पुजारी), अमाइबी (पुजारिन) तथा पेना अशइबा (पेना गायकों) को जाता है। पारम्परिक अभिलेख या विद्वानों की पुस्तकों का मुख्य आधार सहायक आँकड़े ही हैं। उन्होंने पुराण के कुछ अंश या अवशेषों को शामिल किया क्योंकि ज़्यादातर भाग तो युद्ध तथा धार्मिक उत्पीड़न के दौरान नष्ट हो गए थे। उपलब्ध साहित्यिक स्रोत मिथक तथा पौराणिक कथाओं से भरे पड़े थे।

ऐतिहासिक सटीकता के साथ लाई हराओबा के संकेत तथा एक निश्चित तिथि का पता लगाना वास्तव में मुश्किल है। परन्तु स्पष्ट रूप से यह माना जा सकता है कि वर्तमान के लाई हराओबा की नींव कृषि से जुड़े विभिन्न धार्मिक कृत्यों तथा पूर्वजों की पूजा से ही पड़ी। समय के दौरान हुए शैलीगत मानकीकरण के साथ इसका विकास हुआ। इस पर्व के सार का विस्तार निङ्थौजा के अलावा बाकी गोत्र में भी हुआ तथा उन्होंने अपने तरीके से लाई हराओबा उत्सव को ग्रहण किया और अस्तित्व में बनाए रखा। इस तरह से वर्तमान में लाई हराओबा के विभिन्न रूप मौजूद हैं परन्तु उन सबका सार एक ही है।

लाई हराओबा एक ऐसा धार्मिक कृत्य है जो कि 'रोल प्ले' के माध्यम से खेला जाता है। यह पारम्परिक मणिपुरी जनता, विशेष रूप से मितै लोगों की संस्कृति तथा धार्मिक जीवन को दर्शाता है। समग्र रूप से यह जगत संबंधी अभिनय होता है जो जगत निर्माण का परिष्कार करता है तथा इसमें सृष्टि की रचना, पूर्वजों की पूजा तथा मानव जाति द्वारा सभ्यता की शुरुआत को व्यक्त किया जाता है। अमाइबी द्वारा देवी-देवताओं की आत्मा को बुलाया जाता है। देवी-देवता का मिलन होने के पश्चात् रिवाज़ के अनुसार औपचारिक ढंग से एक बच्चा इस दुनिया में आता है। वह अपनी जरूरतों को पूरा करता हुआ बड़ा होता है और इस प्रकार मानव सभ्यता की शुरुआत होती है। देवी-देवताओं को प्रसन्न करने तथा उनकी महिमा गान के लक्ष्य से लाई हराओबा का अभिनय बार-बार किया जाता है जिससे कि समुदाय उर्वरता, जैविक निरंतरता, दीर्घायु, शांति और समृद्धि के आशीर्वाद से धन्य हो जाए। कुछ अनुष्ठानों में रंगमंच के मुख्य तत्त्व शामिल होते हैं जिस वजह से वे परम्परागत रंगमंच के रूप में जाने जाते हैं।

लाई हराओबा गीत, संगीत, नृत्य, भाषा, संस्कार, मूकाभिनय, प्रतीकात्मक क्रिया और रूपक का मिश्रण होता है। लाई हराओबा के प्रत्येक चरण सुव्यवस्थित और नियन्त्रित होते हैं। इसमें एक निश्चित नियम तथा विनियम का पालन किया जाता है। प्रत्येक चेष्टा तथा आंगिक क्रिया का सामान्य या प्रतीकात्मक अर्थ होता है। अनुष्ठान के दौरान अभिनेता अपने हाव-भाव द्वारा दर्शकों के साथ संवाद स्थापित करता है। यह जश्न रूपी अनुष्ठान अत्यधिक

नाटकीय होता है तथा दर्शकों को सामूहिक ज्ञान और जानकारी प्रदान करता है। अभिनय स्थान पर लाई हराओबा में निहित नृत्य, भाव-प्रदर्शन तथा शारीरिक चेष्टाओं के माध्यम से शारीरिक-आंगिक क्रिया को देखा जा सकता है जो कि रंगमंच का एक महत्त्वपूर्ण अंग होता है।

नट-संकीर्तन

गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायियों के लिए नट-संकीर्तन पूजा अर्चना का एक रूप है। इसे महायज्ञ भी माना जाता है। वैष्णव शिल्पकार इसकी उत्पत्ति श्रीमद्भागवत के सौन्दर्यशास्त्र तथा दर्शन से मानते हैं। श्रीमद्भागवत में कलियुग की सबसे अच्छी बात 'हरि संकीर्तन' है यानी प्रभु के नाम का जाप तथा संकीर्तन के माध्यम से एक व्यक्ति अपने सिरों तक पहुँच सकता है और उसे मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। सतयुग में ध्यान के माध्यम से मुक्ति मिलती थी, त्रेता युग में यज्ञ के माध्यम से, द्वापर युग में पूजा के माध्यम से तथा कलियुग में हरि संकीर्तन के माध्यम से मोक्ष प्राप्ति होती है।[40] ध्यान, पूजा, यज्ञ आदि का मिश्रित रूप ही हरि संकीर्तन कहलाता है जो कि कलियुग में मोक्ष प्राप्ति का माध्यम माना जाता है। श्री चैतन्य या गौराङ्ग महाप्रभु ने संकीर्तन के सिद्धांत तथा महत्त्व का प्रचार किया जिसके माध्यम से मुक्ति तथा मोक्ष प्राप्ति होती है।

---

[40] शर्मा चित्रेश्वर अरीबम, मणिपुर नट संकीर्तन विचार, भाग-2 (इम्फाल : 2002) पृ. 23

भक्ति ही नट-संकीर्तन का सार है। पूरे अभिनय में भक्ति का भाव ही प्रमुख है। इसमें राधाकृष्ण के 'मधुर प्रेम रस' (उत्कृष्ट प्रेम) का चित्रण है। नट-संकीर्तन अभिनय पर आश्रित अनुष्ठान है जहाँ नाटकीय रूप में भगवान कृष्ण की लीला को प्रस्तुत किया जाता है। इसमें अभिनय, गीत, संगीत तथा नृत्य की प्रधानता प्रतीकात्मक रूप से होती है। इस अनुष्ठान की प्रक्रिया में अभिनेता तथा दर्शक साधारण सतह से ऊपर उठकर भगवान की लीला में विलीन हो जाते हैं।

किसी भी प्रकार के नाटकीय प्रदर्शन को एक स्थान की जरूरत होती है। नट-संकीर्तन जैसे धार्मिक अनुष्ठान का अभिनय मंडप पर ही होता है। ये मंडप मंदिर के साथ जुड़े होते हैं या फिर आंगन में इनका अस्थायी निर्माण भी किया जा सकता है। वृंदावन भाव, नवद्वीप तथा लाई हराओबा के अनुसार ही नट-संकीर्तन में स्थान तथा दिशा योजना तय की जाती है। राजा-महाराजाओं के समय में शाही दरबार से ब्राह्मणों को राज्य के सभी भागों में भेजा जाता था ताकि वे स्थानीय मंदिर तथा गाँव में नए धर्म का प्रचार करें। इन मंदिरों में राधा, कृष्ण तथा महाप्रभु गौराङ्ग की लकड़ी से बनी मूर्ति स्थापित की गई। आमतौर पर मंदिर से सटा हुआ एक मंडप होता था। अतः तब से मंडप ही मणिपुर के नट-संकीर्तन का रंगमंच है।

लोगों के लिए नट-संकीर्तन रंगमंच का एक धार्मिक रूप है। यह आंतरिक उद्देश्य, इच्छा, लालसा और एक पूरे वैश्विक नजरिए को व्यक्त करता है। नट-संकीर्तन में शामिल वाद्य-यंत्रों, मृदंग, अभिनेता, प्रदर्शन, स्थान, वेशभूषा,

दर्शक तथा समुदाय को अलग करके इसका अध्ययन नहीं किया जा सकता। यह तभी समझ में आता है जब इन सारे तत्त्वों को समग्र रूप में एक साथ लिया जाता है।

आम तौर पर नट-संकीर्तन में जिस प्रकार का रंगमंचीय प्रदर्शन देखने को मिलता है उसमें प्रकृतिवाद और प्रकृतिवादी व्याख्या के माध्यम से अभिनेताओं द्वारा घटनाओं की ऐतिहासिकता का प्रतीकात्मक भाव प्रदर्शन होता है। उदाहरण के लिए, नर और नारी के मिलाप का सिद्धांत गीत, संगीत तथा शारीरिक क्रिया के द्वारा अधिक स्पष्ट हो जाता है और मिलाप के पश्चात् शारीरिक ऊर्जा तथा काल्पनिक स्नान द्वारा शरीर में परिवर्तन को प्रतीकात्मक रूप से अभिनेता की वेशभूषा बदलने के माध्यम से व्यक्त किया जाता है। नट-संकीर्तन में कथातत्त्व चैतन्य जी के जीवन और राधा कृष्ण की लीला प्रसंग होती है। गायक दल, गायन के साथ नृत्याभिनय भी करते हैं।

रास लीला

रासलीला राधाकृष्ण की कथाओं पर आधारित थिएटर का एक वैष्णव रूप है जिसका केन्द्रीय भाव प्रेम तथा भक्ति है। यह कृष्ण लीला के व्यापक अभिनय रूपों के अनतर्गत आता है। रासलीला भगवान कृष्ण के गोपियों संग खेलने की क्रीड़ा होती है। यह राधाकृष्ण की प्रेमलीला का विशुद्ध रूप में चित्रण होता है। धार्मिक अनुष्ठान के अन्तर्गत आने वाले रासलीला में भक्ति और प्रेम के रूप को देखा, सुना तथा महसूस किया जा सकता है। लीला की शुरुआत तथा

अंत भक्ति से होती है। रासलीला शाश्वत सुख की पूर्ति तथा भगवान कृष्ण तक पहुँचने का एक मार्ग है। रासलीला में अभिनय करना तथा उसे देखना या सुनना भी अच्छे कर्म के रूप में माना जाता है। यह मोक्ष प्राप्ति का एक माध्यम है।

मणिपुरी रासलीला सृजनशील गुरु तथा शाही आश्रयदाताओं के समर्पण, असाधारण विचार, परम्परा तथा कल्पना द्वारा जन्य रंगमंच का एक रूप है। महाराज भाग्यचन्द्र की रासलीला की अनूठी रचना एक साधना, योग का सूत्रपात, अन्तर्मुखी यात्रा है तथा प्रेम के प्रतीक और रहस्य का प्रतिनिधित्व करता है।[41] रासलीला एक जीवित परम्परा है। रासलीला संकीर्तन, संगीत और नृत्य का विस्तार तथा स्पष्टीकरण है।[42] रासलीला की आत्मा उसके परम्परागत संयम, नियंत्रित शारीरिक चेष्टा तथा वाक्पटु चुप्पी में निहित होती है। मात्र एक झलक, मस्तक की मामूली सी हरकत और यहाँ तक कि खामोशी भी प्रचूर मात्रा में अर्थ तथा भाव को अभिव्यक्त कर देती है।

मणिपुरी रासलीला की विषयवस्तु पौराणिक हिन्दू ग्रंथ से ली गई है। हरिवंश पुराण तथा भगवत पुराण प्रमुख ग्रंथ हैं। इनमें रास प्रकरण तथा रासलीला अभिनय के विषय में विस्तार से बताया गया है। श्रीमद्भागवत रासलीला के

---

41 E. Nilakanta Singh, "Information" in Sri Surchand Sharma (ed.), Bhangi in Manipuri Ras Dance, (Imphal : R. B. Printing House, 1993) p. 1

42 E. Nilakanta Singh, Aspects of Indian Culture, (Imphal : Jawaharlal Nehru Manipur Dance Academy, 1982) p. 30

महत्त्वपूर्ण स्रोतों में से एक है।[43] श्रीमद्भागवत के अनुसार कार्तिक पूर्णिमा के दिन गोपियों द्वारा भगवान कृष्ण को अर्पित कात्यायनी पूजा में श्रीकृष्ण ने गोपियों के संग रासलीला खेली थी।[44]

मणिपुर की रासलीला का सार विविध ग्रन्थों में से लिया गया है जो अभिनय के माध्यम से कला का एक अद्वितीय रूप प्रस्तुत करता है। विष्णु पुराण तथा भगवत पुराण में राधा का उल्लेख नहीं है। यह रासलीला मुख्य रूप से भगवान कृष्ण तथा गोपियों द्वारा ही निभायी जाती है। परन्तु श्रीमद्भागवत में एक भाग्यशाली गोपी का उल्लेख मिलता है जो चोरी-छिपे भगवान कृष्ण के साथ लीला करती है।[45] कृष्ण-गोपी रासलीला ही राधा-कृष्ण रासलीला के रूप में विकसित हुआ। परिणामस्वरूप रासलीला के मूल भाव का सजीव रूप से चित्रण होता है। श्रीमद्भागवत के अलावा जयदेव की 'गीतगोविन्द' भी रासलीला के सबसे महत्त्वपूर्ण स्रोतों में से एक है। राधा कृष्ण लीला के सन्दर्भ में जयदेव का प्रमुख योगदान केन्द्रीय चरित्र के रूप में राधिका का चित्रण है। यह ग्रन्थ मुख्य रूप से राधा कृष्ण के दिव्य प्रेम तथा एकात्मकता की स्तुति है।

मणिपुरी रासलीला एक गीतिनाट्य है जिसमें आंगिक, वाचिक, सात्विक एवं आहार्य - चारों प्रकार के अभिनय किए जाते हैं। लीला की केन्द्रीय तथा

---

43 Kapila Vatsyayan, Classical Indian Dance in the Literature and Arts, (New Delhi : Sangeet Natak Academy, 1968) p. 71

44 R. K. Shitaljit, Raas Leela, (Imphal : Gandhi Memorial Press, 1981) p. 1-2

45 N. Tombi Singh, The Vaishnav Theatre of Manipur, Thesis Submitted to Manipur University, (Department of Manipuri, 1989) p. 178-188

उप-कथानक का ताना-बाना योजनाबद्ध तरीके से बुना गया है जो उसके मूल भाव, दर्शन तथा लक्ष्य को प्रेषित करता है। पाठ तथा उसकी प्रस्तुति को स्पष्ट किया जाता है और सूत्र-गायन के द्वारा इसे आसान बनाया जाता है। सूत्र के सहारे दर्शकों को कहानी समझने में आसानी होती है। इस जटिल विकास के साथ मणिपुरी रासलीला ने भारत के शास्त्रीय नृत्य का दर्जा प्राप्त किया।

आम तौर पर रासलीला रात भर चलता है। यह लगभग रात के आठ बजे नट-पाला-संकीर्तन के साथ आरम्भ होता है, रात भर चलता है तथा अगले दिन भोर में तीन बजे समाप्त होता है। रासलीला पूर्व-निर्धारित अनुक्रम या व्यवस्था का पालन करता है। रासलीला के पाँचों प्रकार के अनुक्रम का संक्षिप्त निरीक्षण करने पर अर्थ, भाव तथा नियमों में अंतर नजर आता है परन्तु कुल मिलाकर इनका स्वरूप लगभग एक-जैसा ही है। इनके रंगमंचीय अभिनय के दौरान पूर्ण रूप से श्रीमद्भागवत के रस पंचाध्याय के नियम का पालन किया जाता है।

गोष्ठ लीला

गोष्ठ लीला श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध पर आधारित पारम्परिक रंगमंच की एक शैली है। गोष्ठलीला 'सनसेनबा' के नाम से भी प्रसिद्ध है जिसमें भगवान कृष्ण, बलराम और उनके सखा की बाललीलाओं का वर्णन मिलता है। इसमें हँसी-मज़ाक के अलावा राक्षसों का संहार जैसे कुछ गम्भीर रंगमंचीय दृश्य भी शामिल है। इसे बाल रंगमंच के अन्तर्गत रखा जा सकता है क्योंकि इसका केन्द्रीय भाव बाल लीलाओं पर ही आधारित है।

गौ चराने के वक्त भगवान कृष्ण अपने सखाओं के संग फुरसत के समय में किस प्रकार खेलते थे इसका चित्रण गोष्ठ लीला में है। कई वर्षों से गोविन्दजी के मंदिर में गोष्ठ अष्टमी के अवसर पर यानी अग्रहायन माह के आठवे दिवस (शुक्ल पक्ष) पर गोष्ठ लीला का अभिनय होता है। इसके अन्तर्गत मुख्य रूप से गोकुल तथा वृंदावन में बीते भगवान कृष्ण के बाल्यकाल का नाटकीय प्रस्तुतीकरण होता है। हालांकि विशिष्ट कथानक तथा विषयवस्तु होने के बावजूद भी गोष्ठलीला रासलीला और नट-संकीर्तन की तरह ज़्यादा ऊँचाई तक नहीं पहुँच पाया।

गोष्ठलीला की शुरुआत प्रात:काल में ब्राह्मण पुरोहित द्वारा भगवान गोविन्दजी के अर्पण से होती है। लीला का अनुक्रम लगभग सुबह नौ बजे शुरु होता है। लीला की शुरुआत गौरचंद्रिका से होती है। हालांकि गोष्ठ लीला में यह नट-संकीर्तन की तरह नहीं होता। इसी बीच मण्डप के उत्तर-पश्चिमी दिशा में गोष्ठ लीला को शुरु करने की तैयारी की जाती है। दो ढोलकिया पूर्व दिशा की ओर अपना स्थान ग्रहण कर लेते हैं। शंख बजाने वाला भी पूर्व दिशा की ओर ढोलकिया के दाहिने दिशा पर अपना स्थान ग्रहण कर लेता है। सूत्रधार उत्तर दिशा में विराजमान होता है तथा उसका मुख दक्षिण दिशा की ओर होता है। गोष्ठ लीला का गुरु मुख्य सूत्रधार भी होता है, वह 'उठी' का करतब करता है। अराङ्फम (प्रबंधक) समारोह के मुखिया तथा मौजूद सभी लोगों को फूल तथा चन्दन का लेप पेश करता है और उसके बाद समारोह के मुखिया को वस्त्र पेश

करता है। ढोलकिया, सूत्रधार, गायक, राजा, रानी तथा कुलीन वंशज (राजा-महाराजाओं के समय में) को फूल और चन्दन का लेप पेश करने के पश्चात् दर्शकों को झुककर नमन किया जाता है।

गोविन्दजी तथा विजयगोविन्द के मण्डप जैसे कुछ जगहों पर स्थायी रूप से मंडप या अभिनय स्थान होता है। हालांकि कुछ अभिनय आंगन या खुले सार्वजनिक स्थल पर होते हैं उनके लिए अस्थायी मंडप बनाया जाता है। लोग अपनी इच्छा से वालंटियर की तरह इसकी साज-सज्जा में लग जाते हैं जो कि देखने में सजीव परन्तु कर्मकाण्डी प्रतीत होता है। मण्डप के स्तम्भों को सफेद कपड़े से लपेटा जाता है। छत को छत्र द्वारा बड़ी खूबसूरती के साथ सजाया जाता है।

शुरुआत में गोष्ठ लीला का अभिनय केवल ब्रजबोली और बंगाली में होता था परन्तु बाद में यह मणिपुरी में होने लगा। दुग्ध दुहन के प्रथम भाग में प्रतीकात्मक प्रस्तुति के द्वारा आड़ी-तिरछी बातें, गीत, संवाद, नृत्य तथा सम्प्रेषण को नाटकीय रूप में दिखाया गया है। चूंकि गोष्ठ लीला बाल रंगमंच का हिस्सा है अतः कला दृष्टि से इसमें वास्तविक नृत्य या संगीत नज़र नहीं आता। परन्तु श्रद्धालु इसमें भाग लेते हैं और भगवान कृष्ण की बाल लीलाओं का आनंद लेते हैं।

पारम्परिक रंगमंच के रूप में नट-संकीर्तन तथा रासलीला की तुलना में गोष्ठ लीला में अभिनेता थोड़ा आराम महसूस करता है क्योंकि इसमें अपेक्षाकृत

कम सख़्ती होती है। नट-संकीर्तन तथा रासलीला जैसे पारम्परिक रंगमंच की तुलना में गोष्ठ लीला अधिक नाटकीय, लौकिक तथा वास्तविक होता है। गोष्ठलीला के संवाद, अभिनय तथा चेष्टाएँ शैली के अनुरूप तथा तत्काल तैयार किए जाते हैं। इस नाट्य-शैली ने जन-मानस में पर्याप्त विश्वास और श्रद्धा अर्जित कर लिया था। रीति-रिवाजों से सम्बद्ध तथा अपनी विशिष्टताओं के फलस्वरूप गोष्ठ लीला ने पारम्परिक मणिपुरी रंगमंच में अपनी अलग पहचान बनाई है।

उदुखोल

उदुखोल लीला श्रीमद्भागवत पर आधारित है। उदुखोल लीला बाल्य लीला के नाम से प्रसिद्ध है। यह कन्हैया (भगवान कृष्ण का बचपन) बाल्य क्रीड़ा पर आधारित मनोहर नाट्य प्रस्तुति है। जब भगवान कृष्ण दो वर्ष के थे तब उन्होंने बाल लीला की रचना की। ग्रंथों के अनुसार कृष्ण बाल्य लीला की शुरुआत नारद मुनि द्वारा कुबेर के पुत्र नलकुबेर और मणिग्रीव को कमलार्जुन वृक्ष बन जाने के शाप से होती है।[46]

ग्रंथों के अनुसार उदुखोल लीला का केन्द्रीय भाव कमलार्जुन वृक्षों को शाप से मुक्त करना था। इसे यों भी कहा जा सकता है कि भगवान कृष्ण के चरणों में उन्हें मोक्ष प्राप्ति हुई। बाल्य लीला का दूसरा महत्त्वपूर्ण पहलू यशोदा,

---

46 Srimad Bhagwata, Vol. II Translated by J. Sanyal, (New Delhi : Munshiram Mascharlal Pub. Pvt. Ltd. 1973) p. 36

नंद, गोप तथा ब्रजगोपियों को भगवान कृष्ण के वास्तविक रूप से अवगत कराना था। भगवान कृष्ण कन्हैया के रूप में मिठाई और माखन चोरी करने जैसी शरारतें करते जिसमें प्रकारान्तर से यह भाव निहित है कि वे सृष्टि के निर्माता हैं और हर चीज़ उन्हीं से शुरु होती है। हालांकि स्थानीय प्रभाव और विभिन्न गुरुओं की कलात्मक सर्जनात्मकता के परिणामस्वरूप उदुखोल के कई रूप देखने को मिलते हैं। कुछ वर्ष पहले तक तो लिखित रूप में आलेख भी उपलब्ध नहीं था। गुरुओं ने विभिन्न वैष्णव ग्रन्थों की सहायता ली, उस पर काफी खोज की तथा अपनी सहुलियत के अनुसार थोड़ा कुछ जोड़-घटा कर पाठ की रचना की। यह प्रक्रिया चलती रही और समय के साथ इसमें सुधार और परिवर्तन आया। अतः उदुखोल के अभिनय में थोड़े बहुत फेरबदल मौजूद हैं परन्तु इसका अनुक्रम तथा केन्द्रीय भाव पहले जैसा ही है। अभिनय की भाषा मुख्य रूप से ब्रजबोली ही होती थी।

उदुखोल की प्रस्तुति में गीत और नृत्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। नृत्य बहुत ही मनोहर तथा मंत्रमुग्ध कर देने वाले होते हैं। साधारण से कथन में भी बातचीत तथा संवाद का विकास हो जाता है। व्यवहार, मुँह के हाव-भाव तथा शारीरिक चेष्टा में वाक्पटुता और सजीवता होती है। उनका अभिनय बिल्कुल स्वाभाविक-सा लगता है। इसके लिए कलाकार काफी अभ्यास करते हैं जिससे कि उनके संवाद तथा क्रिया अधिक अर्थपूर्ण तथा भावबोधक प्रतीत हो। कुछ दृश्यों में तो कलाकार एक शब्द तक नहीं बोलते परन्तु अपनी शारीरिक चेष्टा तथा व्यवहार के ज़रिए बहुत कुछ व्यक्त कर देते हैं।

उदुखोल की शुरुआती रूपरेखा और अंतिम अध्याय की प्रस्तुति यथार्थवादी रूप से होती है। ये दो कड़ियाँ आपस में जुड़ी हुई है तथा भगवान कृष्ण की बाल्य लीला के बाहरी कवच के रूप में काम करती हैं। भले ही इसे लौकिक कर दिया गया हो परन्तु भक्ति रस के रूप में इसका अभिनय होता है। एक दूसरा भाव भी है जिसके अनुसार उत्कट वैष्णव श्रद्धालु कन्हैया का चरित्र माखन चोर तथा लीला के दौरान गोपियों को परेशान करने वाले के रूप में समझते हैं। मन ही मन में वैष्णव श्रद्धालु भगवान कृष्ण के रस भाव को भली-भाँति समझते हैं।

उदुखोल लीला की प्रस्तुतीकरण की तकनीक और शैली गोष्ठलीला से मिलती जुलती है। यह सत्य है कि भगवान कृष्ण की लीला काफी विस्तृत है तथा उनके विविध प्रकार हैं। विभिन्न प्रकार के हिन्दू रंगमंच रूपों का निर्माण करने में इन प्रतिभाशाली गुरुओं की मेहनत सचमुच सराहनीय है। यह उनकी सर्जनात्मक तथा कलात्मक प्रयास का ही परिणाम है कि उन्होंने वैष्णव दर्शन के भाव को दक्षता के साथ स्थानीय रूप में विशिष्ट आकार प्रदान किया।

गौर लीला

गौर लीला पारम्परिक हिन्दू रंगमंच के सबसे महत्त्वपूर्ण नाटकीय रूपों में से एक है। बातचीत, संवाद योजना, अभिनय और शारीरिक क्रिया शैली के अनुरूप तथा तत्काल तैयार किए जाते हैं। गौर लीला धार्मिक कृत्य पर आधारित है तथा इसका अभिनय शुरु होने से पहले रीति-रिवाज संबंधी प्रस्तावना की

शृंखला रखी जाती है। गौरलीला स्पष्ट रूप से यथार्थवादी अधिनियम की ओर उन्मुख है तथा इसमें गीत, नृत्य और दैविक जीवन में प्रयोग किए जाने वाले संवाद पर अधिक ज़ोर दिया जाता है। अपने इसी गुण के चलते यह रंगमंच का सबसे लोकप्रिय रूप है। मणिपुर में गौरलीला की शुरुआत चन्द्रकीर्ति महाराज के शासनकाल में हुई थी।[47] हालांकि वैष्णव सम्प्रदाय के विद्वानों के ग्रंथानुसार गौरलीला की शुरुआत नरसिंह के समय से मानी जाती है।

वर्तमान में जीवित गुरुओं के अनुसार 'निमाई संन्यासी' की कड़ी ही गौरलीला का प्रारम्भिक रूप है। गौरलीला के शुरुआती दौर में भारती, मधु, सचीमाता, विष्णुप्रिया और अभिराम मुख्य पात्र थे। लीला का आरम्भ नित्यानंद की ब्रजयात्रा से होता है। वे नवद्वीप लीला की शुरुआत करने हेतु श्रीधाम की खोज पर निकलते हैं। अभिराम प्रसंग के पश्चात् निमाई संन्यासी का अभिनय होता था। उपरोक्त गौरलीला के प्राचीन रूप की रूपरेखा का निर्माण ङाङ्बम ओजा माला ने किया।[48] आगे चलकर इसमें जोगाई मधाई, तारा देवी जैसे कई अन्य प्रसंग जुड़ गए और इस प्रकार इसकी विषयवस्तु को विस्तार मिला और कुछ परिवर्तन भी आ गए।

पुराने समय में भले ही गौरलीला काफी प्रसिद्ध था परन्तु इसके अभिनय का मंचन करने में काफी मुश्किलें आती थी। सामान्य रूप से यह मण्डप पर ही

---

47 शर्मा इबोतोन फुराइलात्पम, मितै फिजेत लैतेङ, (इम्फाल, 1990) पृ. 32

48 Sorokhibam Narain Singh, "Shri Shri Gaura Leela", Paper Presented on Manipur Jagoi Seminar, Orgainised by Manipur State Kala Academi, Imphal, May 22, 1977

खेला जाता था। इसके व्यवस्थापन में वर्तमान जैसी सुविधा नहीं होती थी और इसी वजह से अभिनय स्थान काफी छोटा होता था। हालांकि धीरे-धीरे इसमें शानदार परिवर्तन आए जिसने आगे चलकर एक जटिल स्वरूप हासिल कर लिया।

गौरलीला की कहानी भगवान गौराङ्ग की जीवन-कथा पर आधारित है। गौर लीला के आलेख में संस्कृत, बांग्ला तथा ब्रजबोली का मिश्रण मौजूद है। यहाँ तक कि इसमें हिन्दी भाषा के शब्द भी मौजूद हैं। सन्दर्भानुसार अभिनय को ध्यान में रखते हुए इसकी भाषा में तात्कालिक परिवर्तन किए जाते थे। उदाहरण के लिए गौर लीला में 'श्रीधाम मिलन' के अनतर्गत ब्रजलीला से जोड़ने जैसे कई दृश्यों में मुख्यत: संवाद ब्रजप्रदेश की भाषा तथा कहावतों के अनुरूप होते हैं। गौरलीला का यह पहलू इसे काफी नाटकीय रूप प्रदान करता है। हालांकि मणिपुरी भाषा का प्रयोग दर्शकों को बेहतर रूप से इसका भाव समझने में सहयोग देता है।

गौरलीला की वास्तविक शुरुआत निमाई संन्यासी से हुई परन्तु आगे चलकर इसमें कई अध्याय जुड़ गए और इसके रूप में विस्तार हो गया। इसके कुछेक प्रसंग हैं जो श्रद्धालुओं को अधिक पसन्द हैं। 'हीलान्बा' (नौका से नदी पार करना) प्रसंग में हाव-भाव, शारीरिक चेष्टा, संवाद योजना तथा नृत्य सीधे-सीधे दर्शकों के दिल, दिमाग और आत्मा को छू जाती है। गौरलीला के इस कष्टदायी प्रसंग को देखकर सभी दर्शकों, यहाँ तक कि बच्चों की भी आँखें भर आती हैं। परन्तु समय के साथ इसके गुणात्मक स्तर पर भी कमी महसूस की जा

सकती है क्योंकि कलाकारों को एक सीमित समय के अन्तर्गत सम्पूर्ण श्रृंखला को पूरा करना होता है।

मोइराङ पर्व

लोक रंगमंच के रूप में मोइराङ पर्व का विकास महाराज चूराचाँद सिंह के शासनकाल (1891-1941) में हुआ। हालांकि 19वीं शताब्दी के अन्त के आसपास पर्यावरणीय अधिनियम के रूप में मोइराङ पर्व के सबूत मिलते हैं। मोइराङ पर्व मितै समाज का अधिमूल्य लौकिक देशज थिएटर माना जाता है। इसे कृष्ण पर आधारित रासलीला, गौरलीला, गोष्ठलीला, उदुखोल आदि जैसे दरबारी रंगमंच की प्रतिक्रिया रूप में देखा जा सकता है। मोइराङ पर्व की प्रस्तुति मोइराङ की पौराणिक कथाओं पर आधारित है जिसके अन्तर्गत मुख्य रूप से खम्बा-थोइबी की प्रेमगाथा का वर्णन मिलता है। मोइराङ पर्व ने देशप्रेम के भाव, मातृभाषा के प्रति लगाव, मातृभाषा में गीत गायन, देशज ठिठोलियों व श्लेष को पुनर्जीवित किया।

मोइराङ पर्व के माध्यम से थाङ्जिङ देवता की प्रेम त्रासदी का दौर उजागर होता है। वैष्णव धर्म के दौर में मोइराङ पर्व ने अपना दौर शुरु कर एक अलग ही पहचान बना ली। प्रेमी-प्रेमिकाओं के प्रत्येक पौराणिक अवतरण में कई गाथाएँ शामिल हैं जो कि एक ही जन्म में उसी प्रेमी जोड़े के विभिन्न प्रसंग को

प्रस्तुत करते हैं।[49] इसके अवतरण की संख्या कितनी है यह एक विवादास्पद विषय है। कुछ लोग इसकी संख्या सात मानते हैं तो कुछ लोगों के अनुसार इसकी संख्या नौ हैं। हालांकि मोइराङ कङ्लैरोल के नौ अवतरण वाला मत ज़्यादातर स्वीकारा जाता है जिसमें खम्बा–थोइबी की कथा सबसे ज़्यादा महत्त्वपूर्ण मानी जाती है।[50] प्रत्येक आख्यान में एक अलग प्रेम गीत होते हैं जो कि उनके समय तथा जीवन के इर्द–गिर्द ही परिक्रमा करती है। मोइराङ के खम्बा और थोइबी की भव्य प्रेम कथा मोइराङ पर्व का सबसे प्रसिद्ध अध्याय है। खम्बा–थोइबी की प्रेम–गाथा का रूप बड़ा ही शानदार तथा तेरह आख्यानों का सिलसिला है।[51] आख्यानों में मौजूद प्रत्येक गाथा एक स्वतंत्र गीत की तरह गाए जाते हैं। फिर भी मोइराङ पर्व ने मोइराङ रियासत का सांस्कृतिक प्रत्यक्षीकरण होने की वजह से राज्य के सांस्कृतिक विरासत को काफी प्रभावित किया।

एक लौकिक रंगमंच के रूप में मोइराङ पर्व की प्रस्तुति केवल मण्डप में ही नहीं बल्कि खुले मैदान में भी होती थी। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इम्फाल के वाहेङ लैकाई में मोइराङ पर्व खेला गया था। 'थोइबी लोई काबा' (देशनिकाला देने के बाद थोइबी की वापसी) की पर्यावरणीय प्रस्तुति में थोइबी

---

49 Singh Ibochaoba 0., Folk Ballads of Manipur : A Study in literary Perspective, in Regional Seminar on Folk Literature in Eastern Indian Languages organised by Sahitya Academy & Manipur State Kala Akademi, (Imphal, June 17, 1990) p. 4

50 Sarangthem Bormani Singh, "Moirang Kanglairon and Shain" in Sahitya, (Imphal : Feb-May, 2001, No. 111-112) p. 10

51 सिंह माङ्गोलजाओ एच, खम्बा थोइबी पुन्शीवारी, Vol. 2 (Imphal, 1981)

ने घुड़सवारी के माध्यम से वास्तविक रूप में अभिनय किया। दरबारी कवि निङ्थौजम भद्र (1861-1927 ई.) ने इसका चित्रण किया और यह प्रस्तुति की तिथि निर्धारण में एक महत्त्वपूर्ण घटना हो सकती है। सम्भवत: निङ्थौजम भद्र ने प्रस्तुति के पश्चात् जनता के समक्ष इसके पदों को प्रस्तुत किया होगा। इस प्रसंग में थोइबी ने नोङ्बान को चकमा देकर नायक से पूर्वनिश्चित मुलाकात करने की कला को पर्यावरण की दृष्टि से बखूबी निभाया। नाट्य प्रस्तुति मोइराङ राज्य की बोली में ही हुई थी।

मोइराङ पर्व की अधिकतम घटना इसके मुख्य पात्र खम्बा और थोइबी के इर्द गिर्द ही घूमती है। कथा के खलनायक नोङ्बान की साजिश और षड्यंत्र के चलते इनके प्रेम को कई अग्निपरीक्षाओं का बार-बार सामना करना पड़ा। इन अग्निपरीक्षाओं से गुजरते हुए कथा के नायक खम्बा की आखिरकार जीत हुई।

मोइराङ् पर्व की गरिमा इसके नायक और नायिकाओं द्वारा बड़ी ईमानदारी के साथ अपने किरदार को बखूबी निभाने में निहित है। खम्बा, नोङ्बान और थोङ्लेन का किरदार निभाने वाले प्रसिद्ध कलाकारों को लोगों का स्नेह, प्रशंसा और पहचान मिली। यहाँ तक कि वास्तविक जीवन में भी वे मोइराङ पर्व में निभाए गए किरदार के नाम से जाने जाते हैं।

मोइराङ पर्व का अपना ही सौन्दर्यशास्त्र है। उक्ति विमर्श, भाव-भंगिमा, समय सीमा और ताल, स्वरोच्चारण, स्वर-परिवर्तन, गीत, संगीत, नृत्य और वेशभूषा इस शैली के कुछ ठेठ पहलू हैं। यह मधुर, गेय तथा स्वांग संबंधी होता

है। इसकी कलात्मकता खुलङ इशै और पेना द्वारा जन्य होती है। नायक-नायिका का समर्पण, खलनायक का घमंड तथा अत्याचार, नारी की ईमानदारी, नाटकीय कथा और बीच में कुछ छिटपुट हास्यास्पद प्रसंग ने समग्र रूप से इसे विस्तार दिया तथा नाटकीय रूप प्रदान किया। इसका सारांश मितै लोगों की परम्परा, व्यवहार, जीवनशैली तथा नैतिक मूल्यों को व्यक्त करता है। एक तरह से इसे समाज का दर्पण भी कहा जा सकता है।

खोङ्जोम पर्व

खोङ्जोम पर्व तीनों ओर से दर्शकों से घिरा एक नाट्यरूप है। खोङ्जोम पर्व एक अद्वितीय गाथागीत है जिसकी प्रस्तुति की शैली पेना फमशक तथा खुलङ इशै शैली से सम्बद्ध है। खुलङ इशै की प्रस्तुति ज़्यादातर बिना किसी वाद्य-यंत्र के ही होती है। स्त्री तथा पुरुष दोनों ही इसे गाते हैं तथा इसकी विषयवस्तु प्रकृति और प्रेम पर आधारित होती है। पेना अशैबा की प्रस्तुति पौराणिक गाथा तथा गाथागीत पर आधारित होती है जो कि आज भी लोगों का मन मोह लेती है।

खोङ्जोम पर्व का सम्बन्ध उस प्रसंग से है जब सन् 1891 में आंग्ल-मणिपुर युद्ध हुआ था, जब छोटे-से मणिपुर राज्य ने अपनी सम्प्रभुता के लिए ब्रिटिश शासन से मुकाबला किया था। ब्रिटिश की तुलना में मणिपुरियों के पास योजना, संगठन तथा संसाधनों की कमी होने के बाबजूद भी उन्होंने डटकर मुकाबला किया। खोङ्जोम ने मेजर पाओना ब्रजवासी, मेजर हैराङ खोङ्जाल,

सङोइसना, चिङ्लेनसना जैसे मितै सिपाहियों की वीरता और साहस का अनुभव किया। इनमें से पाओना ब्रजवासी सबसे कुशल सिपाही थे। उन्होंने अपनी ताकत, बुद्धि और शौर्य के दम पर ब्रिटिश साम्राज्य का डटकर सामना किया परन्तु ब्रिटिश सेना अत्यधिक शक्तिशाली थी।

राज्य के मूल निवासियों ने दर्दनाक हार का सामना किया। सन् 1891 के आंग्ल–मणिपुर युद्ध में हार का परिणाम यह हुआ कि मणिपुर को स्वतंत्रता नहीं मिल पाई और यह उपनिवेशवाद के अधीन हो गया। अपनी मातृभूमि की स्वतंत्रता के लिए कई वीरों ने अपने प्राणों की आहुति दे दी। वह काफी निराशा और अपमान का दौर था। युद्ध के परिणामस्वरूप लोक कला प्रदर्शन के क्षेत्र में एक दरार–सी पड़ गई जिसने लोगों में फिर से राष्ट्रवाद की भावना को जन्म दिया। खोङ्जोम पर्व मणिपुरी लोक–साहित्य का एक ऐसा रूप है जिसने अपने गीतों के माध्यम से लोगों में नया जोश भर दिया। खोङ्जोम पर्व मातृभूमि के लिए अपने प्राणों की आहुति देने वाले शहीदों पर आधारित गान है। खोङ्जोम युद्ध स्थल एक संरक्षित स्थान है जहाँ हर वर्ष 23 अप्रैल खोङ्जोम दिवस के रूप में मनाया जाता है। इसकी शुरुआत ओजा धोबी लैनऊ ने की थी। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इन्होंने ही इसे कई घरानों में लोकप्रिय बनाने का काम किया।

युद्ध के अंत ने लैनऊ को बेचैन कर दिया। युद्ध के रक्तपात ने उन्हें मानसिक रूप से परेशान कर दिया तथा उनका मन भी अशांत–सा हो गया। वे

अन्तर्मन से ही इतना परेशान हो गए थे कि उन्होंने वीर पुरुषों की शहीदी को स्वीकार कर उसका पालन करना शुरु कर दिया। धीरे-धीरे उनका यह कर्म कलात्मक रूप लेने लगा और वे शौर्य-गीत गाने लगे जिसमें खोङ्जोम युद्ध का वर्णन था। जब लोगों ने उनके गीत को सुना तो उन्हें भी उसी पीड़ा और व्यथा का अनुभव हुआ। वे काफी प्रचलित हो गए तथा उनकी प्रस्तुति ने एक अद्भुत वस्तु का रूप धारण कर लिया।

अपनी पहली प्रस्तुति में ओजा लैनऊ ने एल्युमीनियम की थाली पर अपनी उंगलियाँ बजाते हुए गाया था। लोगों के सहयोग से उन्होंने अपनी गायन शैली में सुधार किया जिसने कला का रूप धारण कर लिया। लोगों के अत्यधिक प्रोत्साहन से वे एक प्रसिद्ध गायक के रूप में उभर कर आए। उनके श्रोताओं ने उन्हें उपहार के रूप में ढोलक दिया जिसका प्रयोग वे अपने गायन में करने लगे। उनकी गायन का यह कलात्मक रूप खोङ्जोम पर्व के नाम से जाना जाने लगा जिसमें खोङ्जाम युद्ध के प्रसंग मौजूद थे। खोङ्जोम पर्व की प्रस्तुति के लिए जबरदस्त कौशल की आवश्यकता होती है क्योंकि इसमें गायकों को प्रसंग के अनुसार अपनी गायन शैली की तकनीक में परिवर्तन करना पड़ता है।

फागी लीला

फागी लीला की उत्पत्ति मनाई अचानबा (पसंदीदा नौकर) और फुंगा नाई (चूल्हा-चौका वाले नौकर) द्वारा देश के रईसों के क्रियाकलापों के निरूपण से मानी जाती है। यह राजा के मनाई अचानबा द्वारा रईसों और शाही परिवारों के

नकल रूप में शुरू हुआ। यह फुरसत के पलों में राजा के समक्ष प्रस्तुत किया जाता था जिससे कि ठाकुरों और अभिजात वर्ग के लोगों की व्याकुलता और उलझनों को हल्का किया जा सके। समय के साथ इस तरह की प्रस्तुति को फागी लीला शैली के रूप में संस्थागत किया गया। मनाई अचानबा के तात्कालिक क्रिया-कलापों को बहुत ही हँसी मज़ाक के साथ प्रस्तुत किया जाता था। उन्हें उनके प्रयास और मनोरंजन के लिए अक्सर पुरस्कृत किया जाता था।

अधिकांश नकल में मनाई अचानबा और फुंगा नाई अभिजात वर्ग की कमजोरियाँ, घबराहट और थोथे जीवन को प्रदर्शित करते। उपहास के ज़रिए वे सामंती समाज की अंदरूनी कार्य प्रणाली के आंतरिक पहलुओं को बतलाते हैं जिसमें विरोध का सूक्ष्म पुट भी शामिल होता है।

चंद्रकीर्ति महाराज (1850-1886) के शासन काल के दौरान फागी (हास-परिहास) को 'फागी लीला' के रूप में औपचारिक रूप दिया गया, जिनमें से थोकचऊ खुनिङजाओ की घटना नामक निरूपण साधन रूप में था।[52] यह अबुजम्बा साइतोन और खरी लाइसुबा नामक दो प्रमुख विदूषकों द्वारा निरूपित किया गया। एक दिन इन दोनों विदूषकों ने बरामदे में एक बड़ा पदचिह्न पाया। उन्हें लगा कि शायद ये किसी हाथी के पद चिह्न हैं। अतः उन दोनों ने हाथी को फँसाने के लिए एक बड़ी योजना तैयार की। उन्होंने हद से ज्यादा बड़े पदचिह्नों का उपहास करते हुए, हाथी को फँसाने की कार्रवाई का मूकाभिनय किया।

---

52 N. Tombi, Mityeng, (Imphal : Naharol Sahitya Samiti Publication, 1982)

आखिरकार पता चलता है कि ये थोकचऊ नामक अन्य दरबारी के पदचिह्न हैं। इस पर राजा समेत शाही परिवार के सभी सदस्य हँस-हँस कर लोट-पोट हो गए। इनकी प्रतिभा को देखते हुए राजा ने विदूषकों को फागी करने के लिए प्रोत्साहित किया। दरबार ने फागी प्रस्तुति को आश्रय दिया जिसे आगे चलकर फागी लीला के नाम से जाना गया। शाही दरबार का समर्थन मिलने से चन्द्रकीर्ति महाराज के शासन काल के दौरान फागी लीला काफी लोकप्रिय हो गया।[53] राजा ने दोनों विदूषकों को आदेश दिया कि वे कुछ ऐसी व्यवस्था करें कि नियमित रूप से हास्यप्रद प्रहसन प्रस्तुत किया जा सके। यह फागी लीला की शुरुआत थी जिसका श्रीगणेश दरबारी प्रस्तुति के रूप में हुआ। आगे चलकर यह दरबार से बाहर की दुनिया यानी जनता तक पहुँचा।

फागी लीला संस्थागत बन गया और यह जनता के बीच बहुत लोकप्रिय हो गया। धीरे-धीरे इसका विस्तार होने लगा और लोग इसे पेशे के रूप में स्वीकारने लगे। यह सामुदायिक समारोहों, सामाजिक अवसरों के दौरान और यहाँ तक कि चन्द्रकीर्ति महाराज के समय में दुर्गा पूजा जैसे धार्मिक त्यौहारों के दौरान भी प्रस्तुत किया गया था। फागी लीला के महत्त्वपूर्ण लक्षणों में कलाकारों का

---

[53] Singh L. Ibungohal and Singh N. Khelchandra, Cheitharol Kumbaba, (Imphal : Sahitya Parishad, 1989) p. 557-558

बेढंगा संवाद, चुटकुले, मज़ेदार आंगिक तोड़-मरोड़ और हाव-भाव तथा हास्यास्पद हुलिया आते हैं।[54]

उस समय के सबसे लोकप्रिय लोक रंगमंच के रूप में फागी लीला का तीव्र गति से विकास होने लगा और ग्रामीण इलाकों में भी प्रस्तुति होने लगी। यह केवल जनता में ही लोकप्रिय नहीं था बल्कि इसने मंच के यजमानों और उच्च पदाधिकारियों को भी अति प्रसन्न किया।

शुमाङ लीला

शुमाङ लीला का विकास विभिन्न चरणों से होते हुए हुआ। विद्वानों के अनुसार, शुमाङ लीला के विकास को तीन चरणों में विभाजित किया जाता है।[55] इसका पहला चरण चन्द्रकीर्ति महाराज से लेकर चूराचाँद महाराज के समय (1891-1941) के आस-पास शुरु हुआ था। यह वह समय माना जाता है जब चन्द्रकीर्ति महाराज के समय का फागी लीला शुमाङ लीला के रूप में बदल गया। फागी लीला की विषय-वस्तु तथा संरचना में कुछेक परिवर्तन करने पर शुमाङ लीला का रूप सामने आया। शुमाङ लीला का दूसरा चरण द्वितीय विश्वयुद्ध से लेकर सन् 1955 तक माना जाता है। इसी अवधि के दौरान जापानी

---

54 Arambam Somorendra, "Shumang Leela : An Introdution", Seagull Theatre Quarterly (Culcutta June / September 1997) p. 153

55 N. Ibobi, "Manipuri Shumang Leela and Wareng makhal makha, (Imphal : N. Heramani Singh, 1986), p. 4

बमबारी ने मणिपुर को तबाह करके रख दिया था। शुमाङ लीला का तीसरा चरण सन् 1955 से 1970 के उत्तरार्द्ध तक चला।

फागी लीला की लोकप्रियता ने कई लोगों को इस पेशे में शामिल होने के लिए प्रोत्साहित किया जिसमें कि दरबारी संरक्षण का फायदा मिलता था। फागी लीला के प्रसिद्ध कलाकारों में अबुजम्बा साइतोन, खरी लाइसुबा, लाइनिङ् मरु, उरित महुम का नाम लिया जा सकता है। चूराचाँद महाराज के समय (1891–1941) में यह अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचा। अतः हम चूराचाँद महाराज के शासनकाल को आधुनिक 'शुमाङ लीला' की शुरुआत मान सकते हैं। राजतंत्र के दौरान प्रस्तुति के नियम तथा विनियम काफी सख़्त होते थे। कलाकारों की पोशाक को लेकर सख़्त नियम निर्धारित किए गए थे, यहाँ तक कि स्त्री कलाकारों को भी अपना सर ढँकना पड़ता था। ज़्यादातर प्रस्तुतियाँ राजमहल, माँ काली के मंडप तथा अन्य सार्वजनिक स्थानों पर होती थी।

बीसवीं शताब्दी के पहले दशक तक संशोधित फागी लीला अथवा पाला (मंडली) की दो विशिष्ट शैलियाँ सामने आईं, यथा – काबुली पाला (काबुलीवाला पर आधारित विषय) और फदिबी पाला (वह मण्डली जो कि एक विशिष्ट ट्रेडमार्क के रूप में फटे हुए कपड़े पहनती थी)। उनकी प्रस्तुति में प्रमुख रूप से हास्य एपिसोड, गीत, नृत्य, विभिन्न ध्वनि और संगीत वाद्ययंत्रों का मुखर अनुकरण पाया जाता था। वे सस्ते हास्यास्पद प्रहसन की भी प्रस्तुति करते थे। औपनिवेशिक शासन के खिलाफ जनता के सूक्ष्म विरोध, अवज्ञा तथा

असंतोष इन समूहों का एक हिस्सा थे। हालांकि यह प्रस्तुति की एक नई शैली थी परन्तु ये समूह फागी लीला शैली के अन्तर्गत आते थे। असमिया, हिन्दी, अंग्रेजी, नेपाली आदि भाषाओं के अर्थहीन शब्दों तथा मुहावरों का बोलने अथवा गाने में अधिक प्रयोग किया जाता था। इन शैलियों में विशेष रूप से काबुली पाला में स्थानीय लोगों पर काबुली व्यापारियों की क्रूरता परोक्ष रूप से परिलक्षित होती है।[56]

अर्थहीन शब्दांश के संवाद समझने में जटिल होते थे। यह बंगाली, अंग्रेजी, हिन्दी और मणिपुरी की मिश्रित भाषा होती थी जिनका कोई अर्थ नहीं होता था परन्तु दर्शकों के मनोरंजन के लिए इन्हें प्रस्तुत किया जाता था।[57] अभिनेता असामान्य पोशाक धारण किए हुए कलाबाजी के करतब करने में मग्न रहते। काबुली अभिनेताओं को काबुली व्यापारी जैसी पोशाक पहनाई जाती। फदिबी पाला के अभिनेता शरीर पर पोशावान, पट्टियाँ और नुपूर बाँधते थे। वे ताली बजाते, गीत गाते तथा अजीबो-गरीब हाव-भाव का अनुकरण करते। आम तौर पर वे सरकारी कर्मचारियों विशेषकर बंगाली बाबुओं का मजाक उड़ाते। ये

---

56 "The Kabuli Traders came with the British, they harassed the common and poor masses forcing them even to buy their merchandize." Arambam Lokendra. "Folk Theatre of Meities of Manipur", in 100 years of Manipur Proscenium Arch Theatre", Commemoratiue Issue, Vol. 1, Imphal, Department of Arts & Culture, Govt. of Manipur, (Imphal 2002), p. 6

57 A. Shymsumder, Manipurgi Shumang Leela Amasung Theatre, (Imphal : Manipur Sahitya Parishad, 1980), p. 14

दल सन् 1907–1908 के दौरान अत्यंत लोकप्रिय थे।[58] इस प्रकार की प्रस्तुतियाँ धार्मिक उत्सवों, जैसे – दुर्गा पूजा के दौरान अक्सर की जाती क्योंकि ऐसे अवसरों पर विभिन्न मंडलियों के लोग होड़ में शामिल रहते हैं। मुकाबले का माहौल इन मंडलियों के लिए अपनी कला का प्रदर्शन करने में काफी सहायक होता है। लोग इनकी प्रस्तुतियों को देखते हैं तथा उनसे प्रसन्न होकर अपने इलाके में प्रदर्शन करने को आमंत्रित करते हैं। इस प्रकार धीरे–धीरे सामाजिक उत्सवों तथा अनुष्ठानों के दौरान कार्यक्रम की संख्या बढ़ने लगी।

ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के आगमन से सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों की एक प्रतिक्रिया रूप में फागी लीला शुमाङ लीला में परिवर्तित हुआ। सामंतवाद, अभिजात वर्ग आदि के विनाश ने सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था को प्रभावित किया। हालांकि इन सभी नाटकीय रूपों में व्यवस्थित कथा की कमी थी और हास्यप्रद सन्दर्भों पर दिए गए जोर को कमज़ोर कर दिया गया। बाद में हँसी और मस्ती–मजाक के ज़रिए सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक मुद्दों पर प्रत्यक्ष रूप से रुचि दिखाई गई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मणिपुरी रंगमंच के प्रारंभिक दौर में जिन नाट्य रूपों को शामिल किया गया है मुख्यतः उनका संबंध पूजा–अनुष्ठान से ही है। लाई हराओबा जिसे मणिपुरी का पहला थिएटर फॉर्म कहा जा सकता है

---

58 Arambam Samorendro, "Origin of Shumang Leela and Development", Seminar on Shumang Leela, Aryan Theatre Hall, Manipur State Shumang Leela Council, (Imphal 25th Dec., 1992)

वास्तव में देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए ही किया जाता है। इसके अलावा यदि रासलीला, गौरलीला आदि की बात की जाए तो वहाँ भी भगवान श्रीकृष्ण की लीलाओं का ही वर्णन मिलता है। आगे चलकर मोइराङ पर्व में खम्बा-थोइबी की प्रेम कथा का वर्णन मिलता है और खोङ्जोम पर्व में युद्ध की गाथा मिलती है। इस तरह से यदि हम देखें तो इन सबके मूल में पूजा-पाठ, धर्म तथा लोक-कथाओं को ही केन्द्र में रखा गया है। वास्तविक रूप में यदि मणिपुरी रंगमंच की बात की जाए तो शुमाङ लीला को मणिपुरी रंगमंच का महत्त्वपूर्ण रूप माना जाना चाहिए।

मणिपुरी नाटकों के मंचन की शुरुआत

मणिपुरी समाज में रंगमंच की शुरुआत लाई हराओबा और रासलीला जैसे लौकिक रूपों से मानी जाती है। शुरुआत में देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए पूजा-अनुष्ठान किए जाते थे और इन क्रियाओं को मणिपुरी रंगमंच के प्रारंभिक रूप के अन्तर्गत रखा जाता है। बीसवीं शताब्दी में मणिपुर का सबसे पहला रंगमंच 'मणिपुर फ्रेण्ड्स ड्रमेटिक यूनियन' के रूप में सामने आया। शुरुआती दौर में बांग्ला नाटकों का मंचन होता था परन्तु समय के साथ मणिपुरी रंगमंच में परिवर्तन आया और मणिपुरी नाटकों का मंचन होने लगा।

द्वितीय विश्वयुद्ध पूर्व

द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले मणिपुरी रंगमंच पर मुख्य रूप से बांग्ला तथा बांग्ला से अनूदित नाटकों का दबदबा था। यदि बांग्ला से अनूदित या रूपान्तरित नाटकों के मंचन की बात की जाए तो श्री बिहरी द्वारा बांग्ला से अनूदित 'पगलिनी' (1905), खाइदेम नोङयाइ द्वारा अनूदित 'पार्थ पराजय' (1918) तथा अकोइजम अमुबी के 'विजय मालती' को मुख्य उदाहरण के रूप में लिया जा सकता ळें

यदि वास्तविक रूप से मणिपुरी मौलिक नाटक की बात की जाए तो लाइरेनमयुम इबुङोहल द्वारा लिखित 'नरसिंह' को मणिपुरी भाषा का प्रथम मौलिक नाटक कहा जा सकता है जिसका मंचन सन् 1925 में चूराचाँद महाराज

के आदेशानुसार राजमहल में श्री गोविन्दजी के मण्डप में हुआ था।[59] यह ऐतिहासिक नाटक था। प्रस्तुति की दृष्टि से इसे मणिपुरी नाटक के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना के रूप में देखा जा सकता है। हालांकि इसके पात्र तथा कथानक इतने दिलचस्प न साबित हो पाए क्योंकि इसमें परम्परागत रूप से चली आ रही प्रताड़ना को ही फिर से प्रस्तुत किया गया था।

सन् 1928 में श्री ललित सिंह जी के 'सती खोङ्नाङ' का मंचन हुआ जो कि सतीदाह पर आधारित था। इसकी प्रस्तुति ने मणिपुरी रंगमंच को एक नई दिशा प्रदान की। पूर्ण रूप से विकसित रंगमंच के न होने पर भी स्थानीय कलाकारों में अभिनय संबंधी दक्षता तथा संवाद निपुणता को देखा गया। 'सती खोङ्नाङ' के बाद श्री ललित सिंह ने मणिपुर ड्रमेटिक यूनियन के लिए 'अरेप्पा मरुप' (1931) नामक नाटक की रचना की। यह उनके मरणोपरान्त लिखित रूप में प्रकाशित हुई। सामाजिक प्रासंगिकता के चलते इसकी प्रस्तुति को लोगों ने काफी सराहा।

हिजम अङाङ्हल ने चार नाटक लिखे - थाबल चोङ्बी (1931), निमाइ संन्यास (1932), इबेम्मा (1936) और पोक्तबी (1939)।[60] इन चारों नाटकों का मंचन 'मणिपुर ड्रमेटिक यूनियन' द्वारा हुआ। इनके कथानक

[59] Yumnam Nirmala Devi, Growth of Modern Manipuri Theatre and its Importance in Manipuri Society , Asian Journal of Multidisplinary Studies

[60] Singh Manihar Ch, A History of Manipuri Literature, Sahitya Akademi, p. 238

अवास्तविक थे तथा उनकी बाकी रचनाओं की तुलना में इनके पात्र इतने अधिक महत्त्वपूर्ण भी नहीं थे। संभवत: उनका झुकाव बदलते समाज के बुरे प्रभाव को प्रस्तुत करना रहा होगा। 'अरेप्पा मरुप' की तरह 'इबेम्मा' की कहानी भी अतिव्ययी बेटे की है जिसे उच्च शिक्षा के लिए बाहर भेजा जाता है परन्तु वह अपनी पढ़ाई पूरी किए बिना ही वापस लौट आता है तथा अपने माता-पिता के पसंद की लड़की से शादी कर लेता है। परन्तु दूसरी तरफ उसे अपने लड़कपन की प्रेमिका लैमतोन से प्यार है जो कि फिलहाल विधवा स्त्री है। बिजोय अपनी पत्नी इबेम्मा को छोड़कर लैमतोन के साथ रहने लगता है। इतना सब होने पर भी इबेम्मा बिजोय से कुछ नहीं कहती परन्तु वह उसे धिक्कार देता है।

उनका अगला नाटक 'पोक्तबी' है जिसका केन्द्रीय विषय इबेमहल नामक स्त्री की अचल ईमानदारी तथा पवित्रता है। इबेमहल की शादी कुमार के साथ हो जाती है परन्तु इबेमहल की सौतेली माँ पैसों के लिए छल द्वारा उन दोनों को अलग कर देती है। इबेमहल सब कुछ झेलते हुए पाँच साल बिता देती है। समय के साथ षड्यंत्र का पता चलता है और कुमार को इबेमहल के बेदाग चरित्र का पता चलता है। वह उसे अपने साथ वापस चलकर रहने का प्रस्ताव रखता है परन्तु इबेमहल मना कर देती है।

लमाबम कमल ने समाज की वर्ण-व्यवस्था पर निशाना साधते हुए 'देवयानी' (1924) नाटक लिखा।[61] उनकी इस रचना में सामाजिक असमानता के लिए विरोध का स्वर देखने को मिलता है। इसमें महाभारत में वर्णित महाराज ययाति की महारानी देवयानी और शर्मिष्ठा की कथा है। देवयानी ब्राह्मण-पुत्री है तथा ब्राह्मणों को सर्वश्रेष्ठ मानती है, अभिमानी है। अपनी हठ को पूरा करने के लिए वह शर्मिष्ठा को अपनी दासी बनवा लेती है। यहाँ तक कि ययाति महाराज को भी वृद्धावस्था का शाप मिल जाता है। अंत में देवयानी को अपनी गलतियों का अहसास होता है और वह शर्मिष्ठा से प्रायश्चित के रूप में दो वर मांगती है - (i) ययाति महाराज के साथ वन में जाकर अपना शेष जीवन बिताने का तथा (ii) अपने पिता की दासी घूर्णिका की पुत्री पौठी को पुरु की महारानी बनाने का।

अराम्बम दरेन्द्र ने 'मोइराङ थोइबी' (1937) और 'भाग्यचन्द्र' (1939) की रचना की। उनकी रचनाओं से पता चलता है कि सामाजिक हलचलों का उन पर कोई विशेष फर्क नहीं पड़ा। हालांकि वे स्वयं इस तथ्य को स्वीकारते हैं कि 'मोइराङ थोइबी' मूल प्रेम गाथा पर आधारित रचना है परन्तु उन्होंने इसकी कथावस्तु में कहीं-कहीं कुछ परिवर्तन भी किए हैं। वास्तव में उनका लक्ष्य एक महाकाव्यात्मक रचना को नाटक रूप में प्रस्तुत करना था। 'भाग्यचन्द्र' (1939) शुरुआत में तो एक राजनीतिक नाटक प्रतीत होता है परन्तु अन्त तक आते-आते

[61] Arambam Somorendra, Indian Literature, Vol. 44, No. 2(196) (March- April, 2000) p. 33, Sahitya Akademi

यह एक धार्मिक रूप धारण कर लेता है ताकि राजा को एक दिव्य धर्मात्मा के रूप में प्रस्तुत किया जा सके।

द्वितीय विश्वयुद्ध पूर्व मणिपुरी रंगमंचीय प्रस्तुति की विशेषताएँ –

1. आम तौर पर नाटक लम्बे ही होते थे। ज़्यादा नहीं तो तीन घण्टे की अवधि के होते थे।
2. ज़्यादातर नाटकों में गीत शामिल होते थे।
3. लम्बे–लम्बे सम्वाद होते थे तथा कहीं–कहीं तो पात्र अपने आप ही काफी लम्बे–लम्बे संवाद में लगे रहते थे।
4. नाटक को खण्डों में विभाजित कर उसकी प्रस्तुति की जाती थी जिससे कि अलग–अलग दृश्य के दौरान आसानी हो जाए।
5. नाटक में पथिक का होना आवश्यक सा था जिसका प्रवेश गीत गाते हुए होता था।
6. उस समय के नाटक अतिनाटकीय होते थे तथा अभिनय के दौरान रस–निष्पत्ति पर जोर दिया जाता था। ज्यादा नहीं तो कम–से–कम तीन प्रकार के रस का मौजूद होना तो अति–आवश्यक माना जाता था।
7. अभिनेताओं के अनुसार चरित्र बनाए जाते थे। अभिनेता अपनी आदतों के अनुसार व्यवहार करते जिससे स्वयं ही चरित्र का निर्माण होता था।
8. मंच के पर्दे में काफी सुन्दर चित्रकारी की जाती थी।
9. प्रस्तुति की शुरुआत में मंगलाचरण अनिवार्य होता था।

10. दृश्य परिवर्तन के दौरान पिछले दृश्य को लम्बा खींचकर समय लिया जाता था।
11. नाटक में मौजूद गीत अभिनेता स्वयं ही गाते थे। आम तौर पर खुशी, दु:ख या वेदना जैसी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए गीत को अनिवार्य अंग के रूप में लिया जाता था।
12. इनमें वास्तविकता तथा यथार्थ का अभाव होता था। बोलचाल तथा व्यवहार की शैली में परिवर्तन कर प्रस्तुत किया जाता था।
13. नाटक की प्रस्तुति 2-3 भागों के अन्तराल में होती थी तथा मौके के अनुसार अन्तराल रख दिया जाता था।

द्वितीय विश्वयुद्धोपरान्त

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् मणिपुर में काफी बदलाव आए विशेष रूप से कला जगत की बात की जाए तो रंगमंच पर इसका काफी प्रभाव पड़ा। यहाँ तक कि जब युद्ध ने काफी निर्ममता से तबाही मचाई तब भी रंगमंच में प्रस्तुति का कार्य चलता रहा और जब माहौल पहले की तरह शांत हुआ तब तक राज्य के गाँव तथा शहरों में नाट्यालयों की संख्या में तीव्र वृद्धि हो गई। अब विषय परिवर्तन होने लगा था। पहले की तरह पौराणिक तथा नैतिकतापूर्ण विषय के स्थान पर अब गाथा और किंवदंतियों पर आधारित कल्पित कथाएँ लिखी जाने लगी। इसके बाद ऐतिहासिक और देशभक्तिपूर्ण विषय को आधार बनाकर लिखा जाने लगा। इन प्रवृत्तियों को युद्ध के पश्चात् सदमे से राहत तथा अपनी अस्मिता

को लोगों के सामने व्यक्त करने की आवश्यकता के परिणाम के रूप में देखा जा सकता है। हालांकि शुरुआत में इन नाटकों को केवल मंचन के लिए ही लिखा जाता था परन्तु बाद में इसे लिखित रूप में पाठ्यसामग्री की तरह रखा जाने लगा।

सन् 1949 में मणिपुर को भारतीय संघ में शामिल कर लिया गया। धीरे-धीरे मणिपुरी समाज में अमीर तथा गरीब के बीच की आर्थिक असमानता स्पष्ट रूप से दिखने लगी। युद्ध के पश्चात् मणिपुर में राजनीतिक रूप से भी परिवर्तन हुए। लोकतंत्र के कारण राज्य की आर्थिक स्थिति में परिवर्तन आया। व्यापारी, नेता, मंत्री आदि धनी वर्ग के प्रतीक थे तथा दूसरी ओर किसान, मज़दूर, कलाकार आदि मामूली तथा कमज़ोर वर्ग के प्रतीक थे। इसके अलावा मणिपुर में पाश्चात्य शिक्षा के आगमन से कुछ लोगों ने बतौर शिक्षक काम करना शुरु कर दिया तथा कुछ लोगों को शिक्षा विभाग में नौकरी मिल गई। कहा जा सकता है कि इस दौरान मणिपुर की तत्कालीन राजनीतिक तथा सामाजिक स्थिति को दर्शाने वाला कोई भी नाटक मंच पर नहीं खेला गया। इस दौरान जिन नाटकों का मंचन हुआ उनमें कहीं भी आर्थिक असमानता जैसी समस्या या जरूरत से ज़्यादा कर वसूली तथा अन्य समस्याओं की बात नहीं की गई जिनसे लोग जूझ रहे थे। इस दृष्टि से तत्कालीन रंगमंच और समाज एक-दूसरे से बिल्कुल अलग थे। परन्तु उस दौरान यदि किसी नाटक में थोड़ा बहुत भी सामाजिक अंश दिखने की बात की जाए तो अयेक्यम श्यामसुन्दर के 'माईनू पेमचा' (1944) की बात की जा

सकती है यह एक भावुकतापूर्ण नाटक के अन्तर्गत आता है। परन्तु इसमें पूर्ण रूप से तत्कालीन समाज का चित्रण नहीं मिलता केवल अंश मात्र ही शामिल है। इस दौरान तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक स्थिति के स्थान पर रंगमंच पर आदर्शवादी तथा अतिनाटकीय प्रस्तुति का ही प्राधान्य रहा।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् सन् 1943 में 'रूपमहल थिएटर' अस्तित्व में आया और इसके साथ ही सामाजिक, पौराणिक तथा लोक कथा पर आधारित प्रस्तुति होने लगी। एल. नेत्रजीत द्वारा लिखित नाटक 'नीङमदबा' का रूपमहल थिएटर में मंचन हुआ। एक वर्ष की अवधि में रूपमहल थिएटर ने लगभग दस नाटकों का मंचन कर एक विशिष्ट संस्थान के रूप में अपनी पहचान बना ली। परन्तु रूपमहल थिएटर की प्रस्तुति के सन्दर्भ में यह कहना बिल्कुल उचित होगा कि इनमें सन् 1960 तक तो केवल पुरानी परम्पराओं का ही अनुसरण किया जा रहा था। कुछ अवधि के बाद इसमें यथार्थ चित्रण को शामिल किया गया।

युद्ध के पश्चात् मणिपुरी नाटक तथा रंगमंच में काफी परिवर्तन के साथ बढ़ोतरी भी हुई। कई रंगमंच संस्थान अस्तित्व में आए। इनमें मुख्यतः रोमांटिक नाटकों का ही प्राधान्य था। इनमें से कुछ रंगमंच संस्थान सन् 1970 तक कार्यरत रहे जिनमें मुख्य रूप से निम्नलिखित संस्थानों के नाम लिए जा सकते हैं –

i) रूपमहल थिएटर, बी टी रोड इम्फाल (1943)

ii) कक्चिङ ड्रमेटिक यूनियन, कक्चिङ (1945)

iii) संगीत नाटक मंदिर, नम्बोल (1946)

iv) इम्फाल वेस्टर्न थिएटर (1946)

v) मुहोन थिएटर, इम्फाल (1949)

vi) लाङमैदोङ ड्रमेटिक यूनियन, लाङ्मैदोङ (1955)

vii) सिटि थिएटर, नागमपाल (1960)

viii) रूपराग (1960)

ix) लिलोङ चजीङ यूथ कम्युनिटि सेन्टर कम कल्चरल इंस्टीट्यूट, ड्रामा यूनिट, लिलोङ (1961)

x) मितै आर्टिस्ट यूनियन (1964)

xi) नाट्य संगीत संघ, ब्रह्मपुर नहाबम लैकाइ, इम्फाल (1965)

xii) थिएटर मिरर, हाओबम मरक, इम्फाल (1965)

xiii) कॉस्मोपोलीटन ड्रमेटिक यूनियन (1968)

xiv) कलाक्षेत्र मणिपुर (1969)

xv) साउथ इस्टर्न मणिपुर आर्टिस्ट एसोसिएशन, थौबाल (1969)

xvi) खोरिफाबा आर्टिस्ट एसोसिएशन, नम्बोल (1969)

xvii) लैमयोल आर्ट सेन्टर, चीङामखा इम्फाल (1970)

इन थिएटर संस्थानों ने मुख्य रूप से परम्परागत रूप से चली आ रही परिपाटी को ही अपनाया। रूपराग नामक संस्थान ने सन् 1961 से मंचन कार्य आरम्भ किया। सन् 1964 में डॉ. नन्दबाबू राय और अरिबम श्याम शर्मा के निर्देशन में शेक्सपियर के 'मैकबेथ' का मंचन हुआ। सन् 1966 में एम.के.

विनोदिनी कृत 'अशङ्बा नोङजाबी' का मंचन हुआ[62] और सन् 1972 में बादल सरकार कृत 'एंड इन्द्रजीत' के मणिपुरी अनुवाद 'अमसुङ इन्द्रजीत' (एम.के. विनोदिनी) का मंचन हुआ। इन दोनों का मंचन अरिबम श्याम शर्मा के निर्देशन में हुआ। इसके बाद एम. के विनोदिनी कृत 'ङाईहाक लम्बीदा' का मंचन भी अरिबम श्याम शर्मा के निर्देशन में हुआ।

लीक से बिल्कुल हटकर अराम्बम लोकेन्द्र ने ज्याँ पाल सार्त्र के 'मैन विदाउट शैडो' का मणिपुरी अनुवाद कर इसका मंचन करवाया। यह अब तक चले आ रहे रोमांटिक नाटक से अलग था और दर्शकों को इसके जरिए कुछ नया देखने को मिला। इसका मंचन सन् 1973 में हुआ। अराम्बम समरेन्द्र कृत 'दशा' (1972) का मंचन अरिबम श्याम शर्मा के निर्देशन में हुआ। अरिबम श्याम शर्मा के निर्देशन में मंचित इन नाटकों से यथार्थवादी अभिनय की शुरुआत मानी जा सकती है। इसके बाद रतन थियाम राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय से लौटकर आए तो उनके निर्देशन में सन् 1974 में धर्मवीर भरती के 'अंधायुग' का मंचन हुआ। रतन थियाम ने अपनी कलात्मक दृष्टि के सहारे इसे अलग ही रूप में प्रस्तुत किया। हालांकि रतन थियाम ने बतौर निर्देशक 'रूपराग' से कार्य आरम्भ किया परन्तु अब 'रूपराग' एक संगीत संस्थान के रूप में जाना जाता है।

सन् 1972 में मणिपुर स्टेट कला अकादमी की स्थापना हुई और इसके बाद इस संस्थान ने पश्चिम बंगाल के प्रसिद्ध निर्देशक बादल सरकार को मणिपुर

[62] Singh Manihar Ch, A History of Manipuri Literature, Sahitya Akademi, p.254

में थिएटर वर्कशॉप का आयोजन करने के लिए निमंत्रण दिया। सन् 1973 में बादल सरकार द्वारा थिएटर वर्कशॉप हुआ। इस वर्कशॉप में मणिपुर के गाँव तथा शहर में स्थित थिएटर संस्थान से लोग आए और इस वर्कशॉप में भाग लिया। बादल सरकार के निर्देशन में हुए इस वर्कशॉप में लोकेन्द्र अराम्बम, ए. बीरेन्द्र, देबेन, श्याम शर्मा, टी एच मनाओ, श्यामकिशोर ने मुख्य रूप से भाग लिया। इस कार्यक्रम में हैसनाम कन्हाइलाल जी ने बादल सरकार के सहायक के रूप में कार्य किया। बादल सरकार का अनुकरण करते हुए कन्हाइलाल जी ने 'कबुई कैओइबा' (1973), 'इम्फाल-73' (1973), 'पेबेत' (1975), 'लाइगी मचाशिङ' (1978) की प्रस्तुति की। 'बॉडी थिएटर' के लिए अभिनय करने वाले नए कलाकारों को इन्होंने प्रशिक्षण दिया।

युद्धोपरान्त मणिपुरी रंगमंचीय प्रस्तुति की विशेषताएँ -

1. लोककथा, मिथक तथा आख्यानों को कथावस्तु का आधार बनाया जाने लगा।
2. प्रस्तुति के दौरान स्थानीय परम्परागत कला रूप जैसे नट-संकीर्तन, खोङ्जोम पर्व, मणिपुरी थाङ्-ता का समावेश किया जाने लगा तथा नए-नए प्रयोग किये जाने लगे।
3. नाटक की योजना स्टाइलिश तरीके से की जाने लगी।

4. अभिनय का रूप काफी स्टाइलिश होने लगा तथा अभिनेता पूरे जोश के साथ अपना किरदार निभाते जिससे कि दर्शकों को पूर्ण रसास्वादन हो सके।
5. संवाद योजना पर अधिक ज़ोर दिया जाने लगा।
6. मंच पर चित्रकारी के स्थान पर दृश्यों के लिए भ्रम उत्पन्न किया जाने लगा।
7. कथानक में पताका प्रकरी के स्थान पर किसी एक ही प्रसंग को आधार बनाया जाने लगा।
8. संवाद योजना के दौरान प्रत्येक शब्द या वाक्य बोले जाने के स्थान पर अभिनेता के हाव-भाव तथा शारीरिक क्रिया द्वारा भावों की अभिव्यक्ति पर ज़ोर दिया जाने लगा।
9. पुरानी कथा को आधार बनाकर वर्तमान स्थिति, समस्या तथा विचार को प्रस्तुत किया जाने लगा।
10. कथावस्तु में मणिपुरी लोक नृत्य, गीत तथा कलारूपों से सामग्री लेकर चित्रात्मक लेखन का संयोजन किया जाने लगा।
11. ज़्यादातर रूपक या प्रतीकात्मक भावों का प्राधान्य होने लगा।
12. छोटे या बड़े पैमाने पर विजुअल प्रस्तुतीकरण होने लगे।
13. प्रस्तुति का वास्तविक रूप निर्देशक ही निर्धारित करने लगे। निर्देशक अपने विचार तथा सिद्धान्तों के अनुसार कथा का रूप निर्धारित करने लगे।

14. दर्शकों को अलग प्रकार का आनंद महसूस करवाने के लिए सामूहिक स्वर का प्रयोग किया जाने लगा।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि मणिपुरी रंगमंच में पहले बांग्ला नाटकों का मंचन होता था परन्तु सन् 1925 में मणिपुरी के पहले मौलिक नाटक का मंचन हुआ। धीरे-धीरे नाटककारों ने विभिन्न विषयों पर लिखना शुरू किया और रंगमंच के हर पहलू को अपनी रचना के माध्यम से प्रस्तुत किया। समय के साथ विचारधारा और विषय में परिवर्तन आया तथा नए-नए प्रयोग किये जाने लगे चाहे वह विषय-वस्तु के संदर्भ में हो या फिर प्रस्तुती के संदर्भ में।

हिन्दी रंगमंच का संक्षिप्त इतिहास

अब तक पिछले अध्यायों में हमने मणिपुरी रंगमंच के इतिहास और मणिपुरी रंगमंच के नाट्यालेख के विषय में जाना। प्रस्तुत अध्याय में मणिपुरी रंगमंच और हिन्दी नाटक के संदर्भ में विस्तार से बताने का प्रयास किया गया है। इसे समझने के लिए हिन्दी रंगमंच के संक्षिप्त इतिहास, हिन्दी के प्रमुख नाटक और मंचन की परंपरा तथा मणिपुरी के मौलिक नाटक और उनकी परंपरा आदि बिन्दुओं पर ध्यान दिया गया है।

प्राचीन काल से ही लोकनाट्य परम्परा साहित्यिक नाटकों के साथ विद्यमान रही है। यदि लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी परम्परा की बात की जाए तो लोकधर्मी नाट्य परम्परा स्वच्छंद रूप में जनजीवन में फली-फूली परन्तु नाट्यधर्मी परम्परा को अभिजात वर्ग का संरक्षण प्राप्त था। जिन परिस्थितियों ने सूरदास, कबीरदास तथा तुलसीदास को जन्म दिया उन्हीं परिस्थितियों ने लोकनाट्य को भी प्रोत्साहित किया। रंगमंचों के विनाश और अभाव के कारण लोकधर्मी नाट्य परम्परा को अपनाया गया।

हिन्दी रंगमंच से तात्पर्य है हिन्दी भाषा का रंगमंच। यदि हिन्दी क्षेत्र में प्रचलित लोकनाट्य रूपों की बात की जाए तो इसके अन्तर्गत रासलीला, रामलीला, नौटंकी, स्वांग आदि आते हैं। रासलीला का मुख्य उद्देश्य लोक रंजन है। रासलीला मुख्यतः नृत्य और संगीतात्मक नाट्य रूप होते हैं जिसके अन्तर्गत बाल-लीलाएँ, गोचरण, कुंज लीलाएँ, पूतना वध, कालिय दमन, गोवर्धन धारण आदि रूप शामिल होते हैं। इन लीलाओं में कृष्ण के जन्म से लेकर उनके मथुरा प्रवास का उल्लेख मिलता है। हालांकि रासलीला देश के विभिन्न भागों में किसी-न-किसी रूप में विद्यमान है परन्तु इसकी उत्पत्ति या मुख्य स्थल ब्रजभूमि को माना जाता है। अपभ्रंश के रास नाटकों से लेकर ब्रज की रासलीला परम्परा ने रंगमंच को सूना नहीं रहने दिया। रामलीला को भी जनसामान्य में काफी लोकप्रियता मिली। मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में वाल्मीकि ने राम को प्रस्तुत किया और धीरे-धीरे रामलीला के लोकनाट्य रूप को आधार मिला। तुलसीदास को रामलीला का प्रवर्तक कहा जा सकता है क्योंकि तुलसीदास का रामचरितमानस रामलीला का आधार ग्रन्थ है। वैसे तो रामलीला केवल उत्तर भारत ही नहीं बल्कि दक्षिण भारत और पूर्व में भी प्रचलित है परन्तु इसका केन्द्र अयोध्या और काशी है। ''रामलीला की प्रस्तुति में अलग-अलग क्षेत्रानुसार परिवर्तन भी होते रहते हैं और शैली एवं भाषा में उस अंचल का प्रभाव रहता है। यह मंचन इतना लचीला होता है कि एक ही प्रसंग के संवाद दूसरी बार बोले जाने पर बदल जाते हैं। इसका कारण यही है कि रामकथा हमारे घर-घर में इतनी अधिक पैठी हुई है

कि प्रसंगों के अनुकूल संवादों की रचना कैसी भी हो, हमारे दर्शक इसका आनंद अवश्य लेते हैं। इसीलिए रामलीला सदियों से हमारे लोकानुरंजन का सबसे बड़ा साधन रही है।''[63]

हिन्दी रंगमंच ने एक ओर संस्कृत तथा लोकनाट्य की परम्पराओं को अपनाया और दूसरी ओर पारसी रंगमंच को भी अपनाया। बलवंत गार्गी के अनुसार जिस समय बंगाल सन् 1870 में व्यावसायिक थिएटर की नींव रख रहा था, उसी दौरान कुछ पारसी बम्बई में नाटक और ललित कलाओं में रुचि लेने लगे। परिणामस्वरूप पारसियों ने व्यावसायिक हिन्दी नाटक की स्थापना की पहल की। पारसी थिएटर एक व्यावसायिक रंगमंच था जिसमें भारतीय लोक रंग और प्रेक्षकों को जुटाने वाले तत्त्वों का समावेश था। नाट्य-कला के परिष्कार के स्थान पर इनका उद्देश्य अर्थोपार्जन करना था। पारसी कम्पनियों के नाटकों में नृत्य-संगीत, ऐन्द्रजालिक वातावरण, उर्दू की नाटकीयता तथा रोमांच भरपूर होता था।

शुरुआती दौर में जोरास्त्रियन थिएट्रिकल क्लब (1858), विक्टोरिया नाटक कम्पनी (1868), पारसी ऐल्फिस्टन ड्रमेटिक क्लब (1872) जैसी अल्पजीवी कम्पनियाँ सामने आईं। वास्तव में पारसी थिएटर ने पराधीन भारतीय जनता की मानसिक स्थिति को समझते हुए अतीत के गौरव के गुणगान को रंगमंच पर

---

63 मेहता सतीश, रामलीला - सात समन्दर पार तक, रंगकर्म : आयाम-दर-आयाम, विकास प्रकाशन कानपुर, प्रथम संस्करण 2013, पृ. 32

उतारा। इनका आधार पुराण, दन्त कथा तथा इतिहास से लिया जाता था। एक तरफ जहाँ इन्होंने खूबसूरत बला, यहूदी की लड़की, शामे जवानी जैसे किस्से प्रस्तुत किए वहीं दूसरी तरफ अतीत के गौरव का दर्शन कराने के लिए अमरसिंह राठौर तथा महाराणा प्रताप जैसे शक्तिशाली पात्रों को रंगमंच पर प्रस्तुत किया। ''पारसी रंगमंच के नाटक लेखकों में प्रमुख थे 'आगाहश्र कश्मीरी' (शहीदे नाज, सफेद खून, ख्वाबे हस्ती, सैदे-हबस, बिल्वमंगल, आँख का नशा, रुस्तम-ओ-सुहराब आदि), पं. नारायणप्रसाद 'बेताब' (गोरखधन्धा, महाभारत, कृष्ण सुदामा, रामायण नाटक आदि), राधेश्याम कथावाचक (वीर अभिमन्यु, कृष्णावतार, श्रवणकुमार, मशरिकी हूर, परिवर्तन आदि), किशनचन्द्र जेबा (शहीद संन्यासी, जख्मी हिन्दी, देश दीपक, चिराग वतन आदि), श्रीकृष्ण हसरत (गंगावतरण), तुलसीदत्त शैदा (जनकनंदिनी), जमुनादास मेहरा (कन्या विक्रय, देवयानी, आदर्शबन्ध या पापपरिणय), इत्यादि।''[64]

पारसी नाटकों के समानान्तर ही लोकधर्मी नाटकों का रूप भी चल रहा था। 'इन्दरसभा' की लोकप्रियता से प्रभावित होकर परवर्ती हिन्दी नाटककारों ने इसकी रचना-विधान के आधार पर नाटकों की रचना की। भारतेन्दु के आगमन से सुधारवादी आन्दोलन तथा सांस्कृतिक जागरण को विषय रूप में चुना जाने लगा। नाटककारों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से जन-जागरण का अच्छा प्रयास किया। केवल इतना ही नहीं बल्कि धार्मिक एवं सामाजिक जागरूकता के साथ राष्ट्रीय

---

64 शर्मा रामजन्म, स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक : 1947 से 1984 तक, पृ. 66

भावना को भी अभिव्यक्ति मिली। इस युग के कुछ महत्त्वपूर्ण नाटकों के अन्तर्गत भारतेन्दु कृत 'अन्धेर नगरी', 'भारत दुर्दशा', 'भारत जननी', बालकृष्ण भट्ट कृत 'जैसा काम वैसा परिणाम', बाबू राधाकृष्ण दास कृत 'दुःखिनी बाला' आदि को लिया जा सकता है। हिन्दी में बांग्ला के माध्यम से पाश्चात्य नाट्य शैली द्वारा प्रभावित दुःखान्त नाटकों की रचना होने लगी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा 'विद्यासुन्दर' के हिन्दी रूपान्तरण के पश्चात् बांग्ला के नाटकों का हिन्दी में अनुवाद तथा रूपान्तरण होने लगा जिनमें सबसे अधिक संख्या में माइकेल मधुसूदन दत्त की रचनाएँ शामिल थीं। लाला श्रीनिवास दास कृत 'रणधीर प्रेममोहिनी', प्रतापनारायण देवकीनंदन कृत 'रामलीला नाटक', किशोरीलाल गोस्वामी कृत 'चौपट चपट' आदि नाटकों से भी इस बात का पता चलता है कि रंगमंच की दृष्टि से भारतेन्दु युगीन नाटक काफी सफल रहे।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बाद हिन्दी नाटक में जयशंकर प्रसाद का नाम लिया जाता है। इस युग में हिन्दी नाट्य साहित्य में काफी वृद्धि हुई। ''प्रसाद का युग कई दृष्टियों से सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्र में नवीन परिवर्तनों का युग था। परिवर्तन यद्यपि प्रसाद युग से पूर्व ही अपना रूप और प्रभाव प्रकट कर चुके थे, किन्तु महायुद्ध के बाद उनमें जो तीव्रता आई, उससे देश की धमनियों में नए रक्त का संचार ही नहीं हुआ, वरन् स्वतंत्रता के लिए विद्रोह के नए स्वर भी उभरे। विद्रोह के इन स्वरों को जगाने में जहाँ एक ओर विदेशी सत्ता के युगीन शोषण का हाथ था, वहाँ देश की अपनी सांस्कृतिक और

आध्यात्मिक प्रणशक्ति का प्रस्फुटन भी कम महत्त्वपूर्ण न था जिसने पुनरुत्थान की भावना और मानवतावादी दृष्टिकोण को जन्म देकर देश में एक नई लहर फैला दी थी। गाँधी के हाथों राजनीति एक ओर विद्रोह की भावना से और दूसरी ओर आध्यात्मिक मूल्यों तथा मानवतावादी दर्शन से बंधी थी। इस प्रकार प्रसाद का युग व्यावहारिक और वैचारिक संघर्ष का युग था जिसमें देश उठकर उस भावभूमि पर आ खड़ा हुआ था, जहाँ प्राचीन नवीन का और नवीन प्राचीन का साक्षात्कार करने के लिए सक्षम था।''[65] इस युग में भारतेन्दु द्वारा शुरु किए गए राष्ट्रीय चेतना और अधिक विकसित हुई। जयशंकर प्रसाद, ब्रदीनाथ भट्ट, आगा हश्र, माखनलाल चतुर्वेदी, राधेश्याम कथावाचक, नारायण प्रसाद 'बेताब', सुदर्शन जैसे नाटककारों ने अपनी रचनाओं द्वारा साहित्य में योगदान दिया। यदि नाट्य सृजन की बात की जाए तो इस युग में भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्य कला का समन्वय देखने को मिलता है। हिन्दी नाटक का प्रारम्भिक काल होने की वजह से भारतेन्दु युग में उच्च स्तरीय हिन्दी नाटकों का अभाव था। यह अभाव जयशंकर प्रसाद को खल गई और उन्होंने उच्च कोटि के नाटकों की रचना की जिनमें भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्य चिन्तन के समन्वय से जन्य नई नाट्य शैली थी। हालांकि इस युग में हिन्दी नाटक कोश में वृद्धि हुई परन्तु दूसरी तरफ रंगमंच की दृष्टि से देखा जाए तो हिन्दी रंगमंच के विकास की जो नींव भारतेन्दु ने रखी थी उसमें एक ठहराव-सा आ गया था। इसका मुख्य कारण कहीं-न-कहीं यह था

---

65 चातक गोविन्द, प्रसाद : नाट्य और रंगशिल्प, पृ. 11

कि पारसी नाटकों की प्रतिक्रिया स्वरूप जयशंकर प्रसाद ने यह सोचा कि नाटक केवल मंचन के लिए ही नहीं बल्कि पढ़ने के लिए भी लिखा जा सकता है। उनका मानना था कि पढ़कर भी नाटक का रसास्वादन किया जा सकता है जो कि कुछ हद तक हिन्दी रंगमंच के लिए बड़े दुर्भाग्य ही बात थी। जयशंकर प्रसाद ने 'स्कंदगुप्त', 'चन्द्रगुप्त' तथा 'ध्रुवस्वामिनी' जैसे उत्कृष्ट नाटकों की रचना की और ये सभी ऐतिहासिक नाटक हैं। इनके नाटकों को कुछ परिवर्तन के बाद मंच पर प्रस्तुत किया जा सकता है। अतः यह कहा जा सकता है कि इन्होंने हिन्दी रंगमंच को चुनौती दी। प्रसादयुगीन रंगमंचीय नाटककारों में आगाहश्र कश्मीरी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने 'सूरदास', 'सीता वनवास', 'मधुर मुरली', 'श्रवण कुमार', 'आँख का नशा', तथा 'भीष्म प्रतिज्ञा' जैसे लोकप्रिय नाटकों की रचना की। 'न्यू एल्फ्रेड थिएट्रिकल कम्पनी' के लेखक और अभिनेता होने की वजह से इनके नाटक रंगमंच की दृष्टि से सफल हुए। माखनलाल चतुर्वेदी ने कृष्ण और अर्जुन के युद्ध पर आधारित 'कृष्णार्जुन युद्ध' नामक एक पौराणिक नाटक लिखा जिसमें वर्तमान राजनीतिक समस्याओं का चित्रण मिलता है। राधेश्याम कथावाचक ने 'वीर अभिमन्यु', 'रुक्मिणी मंगल', 'भक्त प्रह्लाद', 'द्रौपदी स्वयंवर' तथा 'शकुन्तला' आदि पौराणिक नाटक लिखे जो कि रंगमंच की दृष्टि से अभिनेय हैं। नारायण प्रसाद 'बेताब' ने भी पौराणिक हिन्दी नाटक लिखे जिनमें विशेष रूप से 'महाभारत', 'रामायण', 'कृष्ण-सुदामा', 'शकुन्तला' आदि महत्त्वपूर्ण हैं। ये सभी नाटक रंगमंच की दृष्टि से अभिनेय हैं।

जयशंकर प्रसाद के बाद हिन्दी नाटकों में नवीन शिल्प विधि का विकास हुआ। अब पौराणिक नाटकों के स्थान पर समसामयिक विषयों को महत्त्व मिलने लगा। आदर्श के स्थान पर यथार्थ को केन्द्र में रखा जाने लगा। इस युग में नाटककारों ने इतिहास को नए परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया। इस दौर में एक तरफ तो वृन्दावनलाल वर्मा, सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट, गोविन्द वल्लभ पन्त, रामकुमार वर्मा, हरिकृष्ण प्रेमी तथा चन्द्रगुप्त विद्यालंकार जैसे नाटककार हुए जिन्होंने प्रसाद युगीन प्रवृत्तियों को रचना का आधार बनाया। वहीं दूसरी तरफ उपेन्द्रनाथ अश्क, विनोद रस्तोगी जैसे नवीन उद्‌भावनाओं से प्रेरित होकर रचना करने वाले नाटककार भी थे। ''परम्परा और प्रयोगधर्मिता के अन्तःसंघर्ष से नाटक ने अपने लिए नया मार्ग अन्वेषित किया। फलतः संवेदना और शिल्प-दृष्टि से अब नाटक अनेकायामी होकर सामने आया। असुरक्षित और भयातुर परिवेश के अंकन के लिए यदि एक ओर पौराणिक नाटकों की रचना हुई तो दूसरी ओर सामाजिक-समस्या नाटकों के साथ-साथ राजनीतिक छल-छद्म, व्यवस्था से शोषित-दलित जन-मानस की आकांक्षा की अभिव्यक्ति का माध्यम ऐतिहासिक नाटक भी बने। जीवन के रिक्तता बोध और कुंठित मनोवृत्तियों की घुटन को व्यक्त किया एब्सर्ड नाट्य-परम्परा ने अर्थात् सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था की चीर-फाड़ करने के लिए नाट्य-साहित्य ने अनेक रूपों में अपनी अर्थवत्ता सिद्ध की। लोक नाट्य-शैली के साथ एब्सर्डिटी तत्त्वों का समावेश कर नाटककार ने नई पहचान बनाई। रंग-बिरंगे अनेकायामी रूपों में नाटक ने शिल्प-धरातल को भी

व्यापक परिवर्तित जमीन दी। वस्तु-संवेदन, रंग-कर्म, चरित्र-सृष्टि, संवाद-भाषा, मिथक, बिम्ब, प्रतीक सभी दृष्टियों से नाटककारों ने नूतन आयाम खोले। नाटक की जड़े निरन्तर गहरी होती चली गई, क्योंकि अब नाटक जन सहभागिता का पर्याय बनकर दर्पण की भाँति उसे उसी का हू-ब-हू रूप दिखने लगा था।''[66] स्वतंत्रता पूर्व कुछ महत्त्वपूर्ण व्यावसायिक नाटक मंडलियाँ अस्तित्व में आईं। इनमें उल्लेखनीय मंडलियों के नाम इस प्रकार हैं - हिन्दी नाटक मण्डली (1873), ओरिजनल विक्टोरिया नाटक कम्पनी (1877), बिहार थिएट्रिकल ट्रुप (1884), जुबिली थिएटर कम्पनी (1885), न्यू एल्फ्रेड कम्पनी (1890), पारसी ओरिजिनल ऑपेरा कम्पनी (1898), पारसी थिएट्रिकल कम्पनी ऑफ बोम्बे (1903), दि पारसी नाटक मण्डली (1903), शेक्सपियर थिएटर कम्पनी (1921), रंगबोधेच्छु नाट्य समाज (1924), इंडियन आर्टिस्ट्स एसोसिएशन (1936), शाहजहाँ थिएट्रिकल कम्पनी (1938), दि पारसी कौरोनेशन थिएट्रिकल कम्पनी (1939), मूनलाइट थिएटर्स (1939), पृथ्वी थिएटर्स (1944), मिनर्वा थिएटर (1945), मोहन नाटक मण्डली (1945), हिन्दुस्तान थिएटर्स (1946)।

बीसवीं शताब्दी में हिन्दी रंगमंच के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण घटना थी 'इप्टा' की स्थापना। हालांकि 'इप्टा' की स्थापना सन् 1942 में हुई परन्तु सन् 1943 में मुम्बई में इसका अधिवेशन हुआ जिसके परिणामस्वरूप पूरे भारत में

---

66 गौतम वीणा, हिन्दी नाटक : रंगानुशासन एवं प्रायोगिक नवोन्मेष, सन् 1947-2010, के. के. पब्लिकेशन्स नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2011, पृ. 127

इप्टा समिति की स्थापना हुई।[67] 'इप्टा' का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान यह रहा कि पहली बार स्त्रियों को रंगमंच पर हिस्सा लेने का सौभाग्य मिला।[68] 'इप्टा' ने कई नाटककारों और रंगकर्मियों को जन्म दिया तथा प्रेरित किया। इनमें कैफ़ी आज़मी, बलराज साहनी, मोहन सेहगल, दीना पाठक, शांति बर्द्धन, दुर्गा खोटे जैसे कुछ नाम उल्लेखनीय हैं। इन्हीं में से पृथ्वीराज कपूर के विशेष योगदान के रूप में 'पृथ्वी थिएटर' का नाम यहाँ उल्लेखनीय है। यह एक चलता फिरता थिएटर था जिसमें स्वयं पृथ्वीराज कपूर, उज़रा बट्ट तथा ज़ोहरा सेहगल जैसे कलाकार शामिल थे। पृथ्वी थिएटर ने काफी नाम कमाया परन्तु पृथवीराज कपूर के बिगड़ते स्वास्थ्य के चलते इस थिएटर को सन् 1960 में बन्द करना पड़ा।[69] सन् 1943 में ही कुछ छात्रों ने मिलकर 'आदर्श कला मन्दिर' नामक संस्था की स्थापना की जिसके अध्यक्ष पं. जगतनारायण शर्मा थे। इस संस्था ने 'कोणार्क', 'छठा बेटा', 'सिकंदर', 'चन्द्रगुप्त', 'दुर्गादास', 'जहाँगीर', 'रक्षा बन्धन' जैसे महत्त्वपूर्ण हिन्दी नाटकों का मंचन किया।

सन् 1952 में भारत सरकार द्वारा संगीत, नृत्य और नाटक के लिए एक राष्ट्रीय संस्थान 'संगीत नाटक अकादमी' की स्थापना की गई। इसके अलावा सन् 1959 में 'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' की नींव रखी गई। इब्राहिम अल्काजी और शांता गाँधी जैसे निष्ठावान कर्मियों के चलते इस संस्थान ने जल्द ही कई

---

67 Indian People's Theatre Association, Mumbai Theatre guide.com

68 Don Rubin, The World Encyclopedia of Contemporary Theatre : Asia, Taylor & Francis, 2001

69 Kissing the firmament with Prithvi Theatre, The Hindu, Nov. 22, 2004

कलाकार तथा निर्देशकों को जन्म दिया। राडा से प्रशिक्षित इब्राहिम अल्काजी की प्रस्तुति 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' 'अंधायुग', 'तुगलक' और 'आषाढ़ का एक दिन' ने हिन्दी रंगमंच के विकास में एक नया अध्याय जोड़ा।[70]

उत्तर-भारत में आधुनिक रंगमंच आन्दोलन के प्रवर्तक राज बिसरिया एक जाने-माने रंगकर्मी हैं। उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य, परम्परागत और आधुनिक कलात्मक अवधारणा और आवेग का समन्वय करने का साहस किया तथा भरपूर जोश और कर्मनिष्ठा के साथ रंगमंच और अभिनय पर ध्यान दिया। उन्होंने उत्तरप्रदेश के लोकरंगमंच नौटंकी को प्रोत्साहित किया। सन् 1934 में उत्तरप्रदेश सरकार ने राज बिसरिया का सुझाव स्वीकारते हुए उनसे निवेदन किया कि वे राज्य में ड्रामा स्कूल की स्थापना के लिए कोई योजना शुरु करें। सन् 1975 में राज बिसरिया ने लखनऊ में 'भारतेन्दु नाट्य अकादमी' की नींव रखी जो कि बिहार, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश और राजस्थान के विस्तृत हिन्दी भाषी क्षेत्र में एक अनोखा रूप ही था। इनकी प्रस्तुतियों में 'अंधायुग' (धर्मवीर भारती), 'बाकी इतिहास' (बादल सरकार), 'सुनो जनमेजय' (अद्य रंगाचार्य), 'आधे-अधूरे' (मोहन राकेश) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसके अलावा 'जुलियस सीज़र', 'मैकबेथ', 'ऑथेलो', 'किंग लियर' (शेक्सपियर), 'केन्डीडा' (जॉर्ज बर्नाड शॉ), 'दि लैसन' (आयनेस्को) जैसे कई शानदार प्रस्तुतियाँ भी की।

---

70 Don Rubin (1998), The Wold Encyclopedia of Contemporary Theatre : Asia, Taylor & Francis, p. 200,190

धीरे–धीरे कई राज्यों ने रंगमंच की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए राज्य स्तर पर कला संस्थानों की स्थापना की। आर्थिक रूप से मजबूत न होने के कारण शौकिया रंगकर्मी दलों के सदस्य इन्हें चलाते रहे। ज़्यादातर सदस्यों का अपना एक सुनिश्चित पेशा भी था। वे अपने काम से वापस लौटकर अभ्यास करते। धीरे–धीरे काफी संख्या में थिएटर उभर कर सामने आने लगे जिसके अन्तर्गत श्रीराम सेन्टर, कमानी ऑडिटोरियम, मेघदूत थिएटर, एन एस डी का स्टूडियो थिएटर, संगीत नाटक अकादमी का स्टूडियो थिएटर, अभिमंच आदि का नाम लिया जा सकता है।[71] धीरे–धीरे रंगमंच सड़कों पर उतर आया जिसके अन्तर्गत सफदर हाशमी के 'जन नाट्य मंच' का नाम उल्लेखनीय है। एम. के. रैना ने मेक्सिम गोर्की के उपन्यास 'माँ' का मंचन कारखानों के सामने किया जिससे रंगमंच को जनसामान्य से जोड़ने की प्रेरणा मिली। भीष्म साहनी ने सन् 1993 में 'मुआवज़े' नामक नाटक की रचना की। आखिरकार सन् 1989 में सफदर हाशमी के 'हल्ला बोल' की प्रस्तुति के दौरान राजनीतिक गुंडों ने उनकी हत्या कर दी।

बिलासुपर के रहने वाले हबीब तनवीर का हिन्दी रंगमंच में काफी महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे सन् 1943 में मुम्बई गए तथा वहाँ जाकर वे 'इप्टा' और 'प्रगतिशील लेखक संघ' के सम्पर्क में आए। इसके बाद वे सन् 1954 में दिल्ली चले गए तथा वहाँ जाकर वे बेगम ज़ैदी के 'हिन्दुस्तानी थिएटर' से जुड़ गए और इन्होंने 'शकुन्तला' की प्रस्तुति की। इसके बाद इन्होंने शूद्रक की 'मृच्छकटिका'

---

71 Don Rubin (1998), The Wold Encyclopedia of Contemporary Theatre : Asia, Taylor & Francis, p. 213

का नौटंकी शैली में मंचन किया।[72] ''संभवत: इस नाटक की समसामयिकता और सामाजिक चेतना ने उन्हें अभिभूत कर रखा था, साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि 'मृच्छकटिकम्' भास से लेकर कालिदास तक की पूरी नाट्य परम्परा को वस्तु, नेता तथा रस तीनों ही स्तरों पर परिवर्तित करने वाला पड़ाव भी है। 'मृच्छकटिकम्' का स्वरूप जहाँ एक ओर साहित्यिक गरिमा से मण्डित है तो वहीं दूसरी ओर अभद्र, भदेस कहकर नकार दी जाने वाली स्थितियाँ भी उसमें अपनी जीवन उपस्थिति रखती हैं। प्रस्तुत नाटक में राजाकांक्षा तथा जनाकांक्षा और शास्त्र तथा लोक का संघर्ष भी है। अपनी परिणति में यह नाटक दो विपरीत ध्रुवों को परिपूरख भाव से जोड़ता है।''[73] इंग्लैंड जाने से पहले हबीब तनवीर ने सन् 1954 में 'आगरा बाज़ार' की रचना की और निर्देशन भी किया। राडा से वापस आने के बाद छत्तीसगढ़ के जनजातीय लोगों के साथ 'नया थिएटर' में काम किया जिसकी स्थापना इन्होंने सन् 1959 में भोपाल में की थी। आगे चलकर इन्होंने 'चरणदास चोर', 'गाँव का नाम ससुराल', 'मोर नाम दामाद' और 'कामदेव का अपना बसंत ऋतु का सपना' की रचना की तथा असगर वजाहत के नाटक 'जिस लाहौर नहीं देख्या' की प्रस्तुति की।[74] इनके अलावा बी.बी. कारन्त ने भी अपनी प्रस्तुति में लोक रूपों को दिखाया है।[75]

---

72 (a) Datta Amaresh (2006), The Encyclopaedia of Indian Literature (Vol. 2) (Devraj to Jyoti), Vol. 2, Sahitya Akademi
(b) Beyond The Fourth Wall, Outlook (magazine), 22 June 2009

73 मलिक कुसुमलता, हिंदी रंग आंदोलन तथा हबीब तनवीर, स्काई बुक्स इन्टरनेशनल, पृ. 28

74 (a) Habib Tanvir makes his final exit, The Times of India, 9 June 2009

भारत के अन्य भागों की तरह सन् साठ के दौर में बिहार में भी हिन्दी रंग आन्दोलन शुरु हुआ। कलाकार तथा निर्देशक सतीश आनंद बिहार में आधुनिक हिन्दी रंगमंच के प्रवर्तक माने जाते हैं। सतीश आनंद ने सन् 1962 में पटना में 'कला संगम' नामक थिएटर ग्रुप की स्थापना की। इन्होंने रंगमंच के अनुकूल माहौल बनाया तथा निरंतर मंचन कर हिन्दी नाटकों को लोकप्रिय कर दिया। इन्होंने 'अंधायुग' (धर्मवीर भारती), 'मरजीवा' (मुद्राराक्षस), 'आधे अधूरे', 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस' (मोहन राकेश), 'बाकी इतिहास', 'बल्लभपुर की रूपकथा', 'पगला घोड़ा', 'जुलूस' (बादल सरकार), 'खामोश अदालत जारी है', 'जात ही पूछो साधु की' (विजय तेंदुलकर), 'तुगलक' (गिरीश कर्नाड), Enemy of the People का अनुवाद 'जनशत्रु' (इब्सन), 'सिंहासन खाली है' (सुशील कुमार), Three Penny Opera का अनुवाद 'दो टके का स्वांग' (बर्टोल्ट ब्रेख्त) आदि का मंचन किया। 'कला संगम' हमेशा सामाजिक–राजनीतिक–आर्थिक विषयों को नाटक के केन्द्र में रखकर कार्य करती थी। सतीश आनंद ने अपने रंगमंच के माध्यम से जन–चेतना का कार्य भी सकुशल रूप से किया।

(b) Cody Gabrielle H. Evert Sprinchorn (2007), The Columbia Encyclopedia of modern drama, Vol. 2, Columbia University Press, p. 1329

(c) Don Rubin (1998), The Wold Encyclopedia of Contemporary Theatre : Asia, Taylor & Francis, p. 183

75 Don Rubin (1998), The Wold Encyclopedia of Contemporary Theatre : Asia, Taylor & Francis, p. 200

भोपाल में रंगमंच के निर्देशक तथा नाटककार प्रोफेसर सतीश मेहता और उनकी पत्नी ज्योत्स्ना मेहता ने मिलकर 'प्रयोग' नामक एक थिएटर ग्रुप की स्थापना की। इसकी शुरुआत सन् 1976 में इंदौर में हुई परन्तु सन् 1983 में इसका स्थानांतरण भोपाल में हो गया। तब से 'प्रयोग' सक्रिय रूप से नाटकों की प्रस्तुति करता आ रहा है। इनकी महत्त्वपूर्ण प्रस्तुतियों के अन्तर्गत 'अन्धों का हाथी', 'जुलूस', 'बकरी', 'दुलारी बाई', जादूगर जंगल', 'खामोश अदालत जारी है', 'एक और द्रोणाचार्य', 'जिस लाहौर नहीं देख्या', 'काजल का जादू', 'कंधे पर बैठा था शाप', 'मुझे अमृत चाहिए' आदि शामिल हैं।

मृत्युंजय प्रभाकर हिन्दी के युवा नाटककार और रंगमंच निर्देशक हैं जिन्होंने इक्कीसवीं शताब्दी के पहले दशक में एक महत्त्वपूर्ण रंगकर्मी के रूप में स्वयं को स्थापित किया। अपने स्नातक की शिक्षा के दौरान ही वे रंगमंच से जुड़े। आगे चलकर उन्होंने 'अभियान' की सह-संस्थापना की। अपनी आगे की शिक्षा पूरी करने के लिए वे जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय आए तथा उन्होंने प्रसिद्ध रंग सप्तम, बहरूप और दस्तक के साथ कार्य किया। आगे चलकर सन् 2005 में उन्होंने 'सहर' की स्थापना की तथा उन्होंने जोर-शोर से कार्य किया। उन्होंने हबीब तनवीर, बी.वी. कारन्त, प्रसन्ना, रतन थियाम, डी आर अंकुर की छत्रछाया में ज्ञान अर्जित किया। इन्होंने डी. आर. अंकुर, लोकेन्द्र अराम्बल, एच. एस. शिव प्रकाश, सुरेन्द्र शर्मा, परवेज़ अख्तर, विजय कुमार, जावेद अख्तर, सुमन कुमार जैसे निर्देशकों के साथ भी कार्य किया। इनके निर्देशन में कई

नाटकों का मंचन हुआ जिनमें मुख्य रूप से 'सबसे उदास कविता', 'ख्वाहिशें', 'जी हमें तो नाटक करना है', 'ध्रुवस्वामिनी' और 'सुसाइड' को सर्वाधिक सराहना मिली। इन्होंने एच.एस. शिवप्रकाश के प्रसिद्ध कलह नाटक 'मोची मदइयाह' को हिन्दी में रूपांतरित किया जिसका निर्देशन लोकेन्द्र अराम्बम ने किया था। इनकी हिन्दी काव्य संग्रह 'जो मेरे भीतर है' का प्रकाशन साहित्य अकादमी से हुआ।

पुणे जैसी जगह जहाँ पर मराठी रंगमंच का बोलबाला हो, वहाँ हिन्दी रंगमंच को जीवित रख पाना भी काफी चुनौतिपूर्ण कार्य है। परन्तु 'स्वतंत्र थिएटर' इस कार्य को सन् 2006 से काफी निष्ठा और दृढ़ निश्चय के साथ निभा रहा है। अभिजीत चौधरी और धनश्री हेबलीकर के संचालन में यह 'स्वतंत्र थिएटर' अब तक लगभग 70 प्रस्तुतियाँ कर चुका है। मुख्य रूप से इनकी कोशिश यही रहती है कि हर महीने में एक प्रस्तुति की जाए। इनकी उल्लेखनीय प्रस्तुतियों में 'जो जैसा आप ठीक समझे', 'अंधों का हाथी', 'आज की ताज़ा खबर', अंधायुग', 'अजब शेर की गजब काहनी' शामिल हैं। इसके अलावा 'स्वतंत्र थिएटर' ने निर्भया कांड को आधार बनाकर 'मशाल जलाओ दिये से' नामक प्रस्तुति भी की।[76]

---

[76] Lawate Kartiki Nitin, Beyond Shame, Mark Hindi Divas with Mashaal Jalao Diye se, a Hindi Play that is based on the Delhi Gang rape case and aims to sensitise the public to treat victims with empathy, 13 Sep. 2013, Pune

हिन्दी के प्रमुख नाटक और मंचन की परम्परा

हिन्दी नाटकों का आरम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से ही स्वीकार किया जाना चाहिए। इसके पूर्व जिन नाट्य-कृतियों का उल्लेख मिलता है वे वस्तुतः नाटक नहीं पद्यात्मक प्रबन्ध हैं, जिनमें काव्य-गुणों का भी अभाव है। उदाहरण के लिए प्राणचन्द चौहान कृत 'रामायण महानाटक' (1610), लछिराम कृत 'करुणाभरम' (1657), नेवाज कृत 'शकुन्तला' (1680), महाराज विश्वनाथ सिंह कृत 'आनंद रघुनन्दन' (1700), रघुराय नागर कृत 'सभासार' (1700), उदय कृत 'रामकरुणाकर' एवं 'हनुमान नाटक' (1840)। इनमें 'आनंद रघुनंदन' ही ऐसी रचना है जिसमें शास्त्रीय नियमों का पालन किया गया है। अतः कुछ विद्वानों ने इसे हिन्दी का प्रथम नाटक माना है परंतु इसमें नाट्य दृष्टि से कुछ त्रुटियाँ पाई जाती हैं, जैसे काल-दोष का ध्यान न रखकर अंग्रेजी, फारसी, बांग्ला, मैथिली आदि अनेक भाषाओं का प्रयोग किया गया है और कथानक भी शिथिल है। ''पं. रामचन्द्र शुक्ल इसे ब्रजभाषा का नाटकत्वपूर्ण प्रथम नाटक मानते हैं।''[77] इसका कारण यह है कि इसमें कथा का क्रम वही है जो तुलसी कृत रामचरितमानस में है। इसी कोटि का नाटक 'नहुष' (1857) भारतेन्दु के पिता कवि गोपालचन्द्र का है। ''विशुद्ध नाटक रीति से लिखे जाने पर भी यह अन्य ब्रजभाषा नाटकों से भिन्न नहीं है।''[78]

भारतेन्दु युग

---

77 प्रसाद जयकिशन, हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ. 620

78 डॉ. नगेन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 468

भारतेन्दु जी की प्रतिभा बहुमुखी थी, उन्होंने साहित्य के विभिन्न अंगों की पूर्ति का प्रयत्न स्वयं किया तथा इसका इतना गहरा प्रभाव रहा कि उनसे प्रेरित होकर अन्य लेखकों ने भी इस क्षेत्र में कदम बढ़ाए। भारतेन्दु जी ने स्वयं कई संस्कृत नाटकों का अनुवाद किया, उदाहरण के लिए - विद्यासुन्दर, रत्नावली, धनंजय विजय, कर्पूरमंजरी, मुद्राराक्षस आदि। उन्होंने दर्जनों नाटकों और प्रहसनों की रचना की। इनके समय में बांग्ला और अंग्रेजी से भी नाटकों का अनुवाद हिन्दी में किया गया, जैसे - विद्यासुन्दर, दुर्लभ बन्धु आदि। भारतेन्दु जी ने हिन्दी नाटक के क्षेत्र में कदम बढ़ाकर लेखकों का पथ प्रदर्शन किया। भरतेन्दु जी के नाटकों को कई भागों में बाँटा जा सकता है, जैसे -

अ) शृंगार-प्रधान नाटक (चन्द्रावली, प्रेमयोगिनी, सती प्रताप आदि)

आ) राष्ट्रीयता-प्रधान नाटक (नीलदेवी, भारत-दुर्दशा आदि)

इ) हास्य-व्यंग्य-प्रधान नाटक (विषस्य विषमौधम्, अन्धेर नगरी आदि)

भारतेन्दु जी के अलावा इस युग के कुछ प्रतिनिधि नाटककार इस प्रकार हैं -

i) प्रतापनारायण मिश्र

प्रतापनारायण मिश्र भातेन्दु युग के प्रतिनिधि नाटककार माने जाते हैं। मिश्र जी ने भारतेन्दु जी के 'भारत-दुर्दशा' नाटक की शैली पर 'भारत-दुर्दशा' रूपक लिखा। इन्होंने 'कलिकौतुक' नामक नाटक लिखा जिसमें कलियुग के दुर्व्यवहारों को प्रस्तुत किया गया है। यह नाटक भारत की सामाजिक परिस्थिति का यथार्थ

चित्रण करता है। इस नाटक में कपटी साधुओं की वितण्डावाद, दुराचारियों का दुर्व्यवहार, मांस भक्षियों तथा मदिरा सेवियों का अनाचार दिखाया गया है। इनके द्वारा लिखित 'गोसंकट' नाटक में गौओं की दुर्दशा का चित्रण मिलता है। 'जुआरी-खुआरी' एक प्रहसन है जिसमें द्युतक्रीड़ा के अनर्थों का वर्णन मिलता है। 'कलिकौतुक रूपक' में एक पतिव्रता हिन्दू नारी की दु:खद दशा का चित्रण मिलता है जो पति के हाथों नाना प्रकार की विपत्ति सहते हुए भी अपने पति की मंगल कामना करती है। समग्र रूप से कहा जा सकता है कि मिश्र जी के नाटकों का मूल उद्देश्य सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का रहा।

ii) राधाकृष्ण दास

राधाकृष्ण दास जी भारतेन्दु जी के फुफेरे भाई थे और प्राय: उन्हीं के साथ रहा करते थे। इन्होंने 'दु:खिनी बाला' नामक एकांकी नाटक लिखा जिसमें एक हिन्दू विधवा की दु:ख भरी कहानी है। इसके दो संस्करण हैं - प्रथम संस्करण में नायिका श्यामा के पति की मृत्यु के उपरांत संयममय जीवन की उपेक्षा कर स्वेच्छाचारिणी बन निन्दामय जीवन व्यतीत करने का वर्णन मिलता है। दूसरे संस्करण में सामाजिक निन्दा के भय से विधवा श्यामा के विषपान कर प्राण-विसर्जन करने का उल्लेख मिलता है। राधाकृष्ण जी की प्रसिद्धि 'महारानी पद्मावती' और 'महाराणा प्रताप' नामक नाटकों से हुई। ये दोनों ऐतिहासिक नाटक होने के साथ-साथ राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत है। भारतेन्दु द्वारा विरचित अपूर्ण

'सती-प्रताप' को राधाकृष्ण जी ने अपनी योग्यता से पूर्ण किया तथा पाठकों को फर्क भी पता न चला। इसके अलावा उन्होंने 'धर्मालाप' नामक नाटक भी लिखा।

iii) बालकृष्ण भट्ट

बालकृष्ण भट्ट जी भी भारतेन्दु युग के प्रतिनिधि माने जा सकते हैं। निबन्धकार होने के साथ-साथ ये नाटककार भी हैं। तत्कालीन नाट्यकारों से इनके नाटकों की संख्या अधिक है। इनके मौलिक नाटकों में 'दमयन्ती-स्वयंवर', 'वेणु संहार' और 'जैसा काम वैसा परिणाम' अत्यंत प्रसिद्ध हैं। इसके अलावा इन्होंने माइकेल मधुसूदन दत्त के दो नाटकों 'पद्मावती' और 'शर्मिष्ठा' का अनुवाद भी किया। ''कहा जाता है कि भट्ट जी ने निम्नलिखित नाटकों की रचना की - शर्मिष्ठा, पद्मावती, चन्द्रसेन, मृच्छकटिक, किरातार्जुनीय, पृथु-चरित्र, शिशुपाल वध, नल-दमयन्ती, नल-दमयन्ती स्वयंवर, शिक्षा-दान, आचार-विडम्बना, नई रोशनी का विष। ये सारे नाटक अब तक अप्रकाशित है।''[79]

iv) राधाचरण गोस्वामी

राधाचरण गोस्वामी जी ने तीन बड़े नाटक लिखे जो इस प्रकार हैं - 'सती चन्द्रावली', 'अमरसिंह राठौर', 'श्रीदामा'। 'सती चन्द्रावली' ऐतिहासिक नाटक है जिसमें एक वीर नारी का चरित्र दिखाया गया है, जो राज-सुख को त्याग अपने धर्म पर आरूढ़ रहती है और धर्म-रक्षा के लिए युद्ध करते हुए शरीर

---

[79] ओझा दशरथ, हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, पृ. 161

त्याग देती है। 'अमर सिंह राठौर' एक ऐतिहासिक नाटक है जिसमें वीर रस की प्रधानता है। गोस्वामी जी के तीन छोटे प्रहसन इस प्रकार हैं - 'बूढ़े मुँह मुहासे', 'तन-मन-धन गोसाईं जी के अर्पण' और 'भंग-तरंग'।

भारतेन्दु युगीन नाटकों की प्रवृत्तियाँ :

क) इस काल के नाटकों में विषय-वैविध्य देखने को मिलता है।

ख) इस काल में राष्ट्रीय-चेतना से ओत-प्रोत नाटकों की संख्या में वृद्धि पाई जाती है, जैसे - भारतोद्धार (1883), भारत-आरत (1885), भारत-सौभाग्य (1887), वर्तमान दशा (1890), देश-दशा (1892), भारत दुर्दिन (1895), भारत-हरण (1899), भारत-दुर्दशा (1902) आदि।

ग) इस काल में ऐतिहासिक नाटक लिखे जाने लगे, जैसे - पद्मावती (1882), श्री हर्ष (1884), अमर सिंह राठौर (1885), संयोगिता-स्वयंवर (1885), महाराणा प्रताप (1897) आदि।

घ) साधु-पाखण्ड तथा बाल-विवाह को लक्ष्य करके समस्या नाटक लिखे जाने लगे तथा इनके माध्यम से समाज-सुधार की चेष्टा झलकती है। उदाहरण के लिए - अबला विलाप (1884), दु:खिनी बाला (1880), विधवा-विवाह (1882), विवाहित-विलाप (1883), बाल-विवाह (1874), विवाह विडम्बना (1884), वृद्धावस्था विवाह (1888) आदि।

ङ) इस काल में रामलीला तथा रासलीला को लक्ष्य करने के बजाय आधुनिक रंगमंच का ध्यान रखकर राम-कृष्ण संबंधी नाटक लिखे जाने लगे, जैसे - सीताहरण (1876), रामलीला-विजय, सीता स्वयंवर, प्रयाग-रामागमन तथा कृष्ण-सुदामा (1870), रुक्मिणी हरण (1876), प्रद्युम्न विजय (1893), द्रौपदी-वस्त्रहरण (1896) आदि।

प्रसाद युग

हिन्दी नाटक को साहित्यिक भूमिका प्रदान करने का कार्य भारतेन्दु जी द्वारा सबसे पहले किया गया। भारतेन्दु जी द्वारा स्थापित किए गए नाटक और रंगमंच को जयशंकर प्रसाद ने नई दिशा प्रदान की।

इस युग में पौराणिक तथा ऐतिहासिक नाटकों की रचना का क्रम चलता रहा। मैथिलीशरण गुप्त ने 'तिलोतमा' तथा 'अनघ' की रचना की। मिश्रबन्धुओं के 'पूर्व भारत' तथा 'उत्तर भारत' और बद्रीनाथ का 'बेनु चरित्र' पौराणिक नाटक सामने आए। जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द' ने 'प्रताप-प्रतिज्ञा' वियोगी हरि ने 'प्रबुद्ध यामुन' तथा उदयशंकर भट्ट ने 'चन्द्रगुप्त मौर्य' नामक सुन्दर ऐतिहासिक नाटक लिखे। इस प्रकार के नाटकों में अतीत के गौरव की झाँकी है। इस युग में समस्यामूलक नाटक भी लिखे गए, जिनसे समाज में प्रचलित अनेक समस्याओं पर विचार किया गया है। दूसरे सामाजिक नाटक भी लिखे गए। इस प्रकार के नाटक जगन्नाथ प्रसाद शर्मा 'मिलिन्द', लक्ष्मीनारायण मिश्र तथा प्रेमचन्द आदि ने लिखे।

प्रसाद जी ने हिन्दी नाटक साहित्य को महत्त्वपूर्ण मोड़ देने के साथ उसके भण्डार को सशक्त तथा सफल बनाने का प्रयास किया। रोमानी प्रकृति के लेखक होने के कारण उन्होंने देश के गौरवमय अतीत को अपने नाटकों का विषय बनाया। उन्होंने इतिहास की प्राचीन घटनाओं के माध्यम से व्यंग्य-रूप में वर्तमान युग की समस्या तथा उसका समाधान प्रस्तुत करने का सफल प्रयोग किया। ''हिन्दी उपन्यास और कहानी के क्षेत्र में जो स्थान प्रेमचन्द का है, नाटक के क्षेत्र में लगभग वही स्थान प्रसाद का है।''[80] प्रसाद जी की आरम्भिक रचनाएँ इस प्रकार हैं - सज्जन, कल्याणी-परिणय, प्रायश्चित, करुणालय, राज्यश्री। इसके पश्चात् उन्होंने विशाख, अजातशत्रु, कामना, जनमेजय का नागयज्ञ, स्कन्दगुप्त, एक घूँट, चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी जैसी नाट्यकृतियाँ पेश की। प्रसाद जी के सामने यह कठिनाई आई कि वे जिस तरह के नाटक लिखना चाहते थे हिन्दी रंगमंच उसके अनुकूल नहीं था क्योंकि उस समय हिन्दी रंगमंच अविकसित था। परिणामस्वरूप प्रसाद जी के नाटक हर दृष्टि से उत्कृष्ट होने पर भी अभिनय की दृष्टि से सफल नहीं रहे।

कलात्मक उत्कर्ष की दृष्टि से प्रसाद के प्रमुख नाटक तीन हैं - 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी'।

इस युग में पुरानी परम्परा के अनुसार प्रहसनों की रचना की गई। राधेश्याम ने 'कौंसिल की मेम्बरी', जालान ने 'घर के सूम', पं. गोविन्द वल्लभ

---

[80] डॉ. नगेन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 565

पंत ने 'कंजूस की खोपड़ी' तथा भट्ट जी ने 'विवाह का विज्ञापन' आदि प्रहसन लिखे। मौलिक नाटकों के सिवाय अनेक अनुवाद भी संस्कृत और अंग्रेजी से हिन्दी में किए गए। गाल्सवर्दी के 'सिल्वर बॉक्स' का 'चाँदी की डिबिया' नाम से अनुवाद किया गया और भी अनेक नाटकों का अनुवाद किया गया। इस युग में नाटकों की भाषा, भाव, शैली आदि सभी तत्त्वों का पूर्ण विकास हुआ।

प्रसाद युगीन नाटकों की प्रवृत्तियाँ :

क) इस युग में ऐतिहासिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत नाटकों का प्राधान्य रहा।

ख) इस युग के नाटकों में भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्य शैलियों का समन्वय हुआ।

ग) इस युग के नाटकों ने प्रसादोत्तर काल की नींव रखी।

घ) इस युग के नाटकों में साहित्यिकता तथा रंगमंचीयता का सुखद समन्वय देखने को मिलता है।

ङ) पूर्व-परम्परा की तरह इस काल में संस्कृत, बांग्ला, अंग्रेजी भाषाओं के नाटक के अनुवाद हुए-

संस्कृत - मालती माधव, मृच्छकटिक, उत्तर रामचरित।

बांग्ला - रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नाटक, गिरीशचन्द्र घोष के नाटक।

अंग्रेजी – शेक्यपियर तथा टॉल्सटॉय के नाटक।

प्रसादोत्तर युग

इस काल में हिन्दी नाटक रंगमंच और जीवन के यथार्थ से जुड़ा। स्त्री शिक्षा का प्रचार होने के कारण तथा पश्चिमी पद्धति पर नव समाज के निर्माण के कारण लोगों की सोच में बदलाव आ रहा था। परिणामस्वरूप उन्मुक्त प्रेम और दाम्पत्य के होड़ में कई सारी नई समस्याएँ खड़ी होने लगीं। इस ओर नाटककारों का ध्यान आकृष्ट हुआ और यहीं से उन्हें प्रेरणा मिली। यहीं से शुरुआत होती है समस्या नाटक की। वैसे आधुनिक युग में समस्या नाटक के जन्मदाता का दर्जा लक्ष्मीनारायण मिश्र को दिया जाता है। उनके द्वारा लिखा गया 'संन्यासी' इस कोटि का पहला नाटक माना जाता है। इस नाटक में विश्वकांत नाम का पात्र मालती नाम की स्त्री के प्रेम में असफल होने के कारण संन्यासी बन जाता है। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् ब्रिटिश सरकार ने किस तरह देश को पीसा तथा धोखा दिया, रौलट ऐक्ट, जलियावाला बाग हत्याकांड तथा गाँधी के असहयोग आन्दोलन ने देश में जो उथल-पुथल का माहौल बनाया, क्रांतिकारियों का जीवन दाव पर लगाया, उसका चित्रण इस नाटक में मिलता है।

मिश्र जी का अगला नाटक 'राक्षस का मन्दिर' है। इसमें एक मुसलमान वेश्या की दशा दिखाई गयी है। रघुनाथ नाम का पात्र उस वेश्या से प्रेम करता है तथा रघुनाथ का मित्र मनोहर, दबाव डालकर रघुनाथ की सारी सम्पत्ति वेश्या

सुधार के लिए खोले गए मन्दिर के नाम लिख डालता है जिसकी बाद में पोल खुल जाती है।

इसके अलावा भी मिश्र जी ने 'मुक्ति का रहस्य', 'राजयोग', 'सिन्दूर की होली', 'आधी रात' जैसे अन्य समस्या नाटक भी लिखे।

वृन्दावनलाल वर्मा ने भी कई समस्या नाटक लिखे। उनकी 'बाँस की फाँस' में गोकुल नाम का सुशिक्षित लड़का पुनीता नाम की भिखारिन की बेटी से विवाह करता है और भिखारिन उसे गुण्डा समझती है। वर्मा जी ने 'पीले हाथ', 'लो भाई पंचों लो' जैसे सामाजिक समस्या नाटक भी लिखे।

उपेन्द्रनाथ अश्क ने भी कई समस्या नाटक लिखे। इनके द्वारा लिखित 'छठा बेटा' में वृद्धावस्था में माता-पिता को जिन समस्याओं का सामना करना पड़ता है उनका चित्रण मिलता है। बसन्तलाल अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति अपने लड़कों में बाँट देता है, सम्पत्ति मिल जाने के बाद कोई भी अपने माँ-बाप की सेवा नहीं करता। इनके 'अंजों दीदी' की अंजों दीदी अनुशासनप्रिय होने के साथ यंत्रीकरण का पर्याय है। उन्हें मशीन और इन्सान में फर्क करना ही नहीं आता, जिस वजह से उनका अपने परिवार में तालमेल नहीं बैठ पाता, पति-पत्नी के विचारों में विषमता आ जाती है।

आर्थिक विषमता की समस्या को आधार बनाकर भगवती चरण वर्मा ने 'तुम्हें रुपया खा गया' तथा रामनरेश त्रिपाठी ने 'पैसा पमेश्वर' जैसे प्रसिद्ध नाटक लिखे।

विष्णु प्रभाकर कृत 'डॉक्टर' एक मनोवैज्ञानिक सामाजिक नाटक है जिसमें भावना तथा नैतिक कर्त्तव्य का संघर्ष दिखाया गया है।

जगदीशचन्द्र माथुर के 'कोणार्क' नाटक में मंचीय सार्थकता एवं नयी जटिल जीवनानुभूतियों की नाटकीय रचनात्मकता लक्षित होती है। धर्मवीर भारती का 'अंधायुग' आधुनिक भावबोध को रूपायित करने वाला गीति-नाट्य है। इसमें बताया गया है कि किस तरह युद्ध के बाद पहले के सारे अर्थ बदल जाते हैं। इसमें महाभारत के अठारहवें दिन की संध्या से प्रभास-तीर्थ में कृष्ण के देहावसान के क्षणों तक की कथा ली गयी है।

डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल ने भी कई नाटक लिखे। 'अन्धा कुआँ' में शराबी पति द्वारा पत्नी पर किए जाने वाले अत्याचार का वर्णन मिलता है। 'मादा कैक्टस', 'सुन्दर रस', 'सूखा सरोवर' जैसे प्रतीकात्मक नाटक लिखने के अलावा उन्होंने आधुनिक जीवन की संवेदना के आधार पर 'मिस्टर अभिमन्यु' और 'करफ्यू' लिखा जो रंगमंच की दृष्टि से भी सफल है।

मोहन राकेश कृत 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस' और 'आधे अधूरे' मानवीय ट्रेजेडी को प्रस्तुत करने वाले नाटक हैं। इन नाटकों में अलग-अलग कथानक तो चुने गए हैं परन्तु घूम-फिर कर ये सारे के सारे

वर्तमान मनुष्य की मानसिक स्थिति तथा आधुनिक समाज की समस्या को दर्शाते हैं।

सेठ गोविन्ददास ने यथार्थ से परिपूर्ण 'हिंसा और अहिंसा' तथा 'संतोष कहाँ' जैसे सामाजिक नाटक लिखे।

लक्ष्मीनारायण मिश्र द्वारा मनोविज्ञान से भरपूर 'अपराजित' और 'चक्रव्यूह' जैसे नाटक लिखे गए।

हरिकृष्ण प्रेमी ने 'आहुति', 'स्वप्नभंग', 'विषपान', 'साँपों की सृष्टि', 'उद्धार', 'अमृत पुत्री' जैसे ऐतिहासिक नाटक लिखे।

एकांकी नाटक के क्षेत्र में सर्वप्रथम जयशंकर प्रसाद ने 'एक घूँट' नामक एकांकी लिखा। धीरे-धीरे इस क्षेत्र में अन्य लोगों ने भी अपनी कलम चलाई। मुख्य रूप से एकांकी नाटक के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य डॉ. रामकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, धर्मवीर भारती, उदयशंकर भट्ट, आचार्य चतुरसेन शास्त्री, विष्णु प्रभाकर, सेठ गोविन्द दास आदि लेखकों का है। आज वर्तमान समय में चित्रपट के विकास तथा समय की बचत की दृष्टि से एकांकी नाटकों ने एक महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है। रामकुमार वर्मा के एकांकी नाटक इस प्रकार हैं - 'पृथ्वीराज की आँखे', 'चारुमित्रा', रेशमी टाई', 'विभूति', 'सप्तकिरण', 'ध्रुवतारिका', 'ऋतुराज', 'दीपदान', 'बापू', 'कामकन्दला' आदि। सेठ गोविन्ददास के एकांकी नाटकों में 'नानक की नमाज', 'बुद्ध की एक शिष्या', 'ईद और होली', 'मानव-मन', 'हंगर स्ट्राइक' उल्लेखनीय है। इस तरह से कई लेखकों ने इस

विधा को अत्यधिक लोकप्रिय तथा प्रचलित करने के लिए अपनी-अपनी लेखनी उठाई।

दूसरी तरफ आकाशवाणी से प्रसारित होने वाले एकांकी नाटकों का प्रणयन आरम्भ हुआ, जिसका आधार विविध प्रकार की ध्वनि संयोजना के माध्यम से श्रोताओं को प्रभावित करना होता है। इनको रेडियो-नाटक कहा जाता है। डॉ. रामकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, उदयशंकर भट्ट, भगवतीचरण वर्मा, हरिकृष्ण प्रेमी, अमृतलाल नागर, विष्णु प्रभाकर आदि एकांकी नाटककारों ने इस दिशा में अपना योगदान दिया तथा प्रसिद्ध भी हुए।

प्रसादोत्तर युगीन नाटकों की प्रवृत्तियाँ :

क) प्रसादोत्तर युग में यथार्थवादी समस्या मूलक नाटकों का प्राधान्य रहा, जिनमें जीवन का यथार्थ चित्रण तो मिलता ही है साथ ही विविध समस्याओं को उभारने की प्रवृत्ति भी पाई जाती है।

ख) इस युग के नाटकों में हमें युग-चित्रण उपलब्ध होता है यानी इतिहास तथा पौराणिक घटनाओं से सामग्री खोजने के स्थान पर नाटककार अपने आस-पास की दुनिया से ही कथावस्तु चुनकर युग को वाणी देना अपना कर्त्तव्य समझता है।

ग) प्रसादोत्तर युग में मंचन की दृष्टि से काफी विकास हुआ। नाटकों में रंगमंच तथा अभिनेता का विशेष ध्यान रखा जाने लगा।

घ) एकांकी नाटक इस युग की सबसे बड़ी विशेषता है। साथ ही रेडियो रूपक, एकपात्रीय नाटक जैसे नाटक की नवीन शैलियों का उद्‌भव तथा विकास हुआ।

मंचन की दृष्टि से हिन्दी के कुछ महत्त्वपूर्ण नाटक इस प्रकार हैं-

1. अंधेर नगरी

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा रचित 'अंधेर नगरी' व्यंग्यात्मक शैली में लिखा गया है। सन् 1881 में रचित यह नाटक एक कालजयी रचना है जिसमें देश की बदलती परिस्थिति, चरित्र, मूल्यहीनता और व्यवस्था के खोखलेपन को बड़े रोचक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। यह नाट्यकृति 'अंधेर नगरी चौपट राजा' लोकोक्ति पर आधारित है जिसमें कुल 6 अंक हैं। भारतेन्दु जी का मुख्य उद्देश्य जनता की चेतना को जाग्रत करना है।

इस नाटक में बाजार का दृश्य है जहाँ हर चीज़ टके सेर बिक रही है। इस राज्य के राजा ने एक विचित्र नियम बना रखा था कि उसके राज्य में हर चीज़ एक ही भाव में बेची जाए। इस राजा की न्याय प्रणाली तो और भी विचित्र थी। यदि उसके दरबार में कोई गुहार लगाता आ जाए तो सजा जरुर दी जाती थी और राज्य के अधिकारियों को हर हाल में उसका पालन करना पड़ता था। राजा की ऐसी अजीबो-गरीब न्याय व्यवस्था के चलते एक बकरी के मरने पर एक साधु को फाँसी पर चढ़ाया जा रहा था। कारण यह था कि जिसे सजा सुनाई गई फाँसी का फंदा उसे बड़ा पड़ रहा था और इस विचित्र राजा के आदेशानुसार

किसी-न-किसी को तो फाँसी पर चढ़ाया जाना ही था। अतः एक मोटे साधु की गर्दन मापी गई तथा फंदा उसके गले के बराबर होने के कारण उसे फाँसी पर चढ़ाने की तैयारी की जाने लगी परन्तु हालात कुछ यों बदले कि अंत में राजा ही फाँसी पर चढ़ गया।

इस नाटक के जरिए सत्ता की विवेकहीनता पर कटाक्ष किया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि किसी देश का शासन किसी अविवेकी तथा अयोग्य व्यक्ति द्वारा संचालित होता है तो ऐसे राज्य में कोई भी सुखी नहीं रह सकता। ऐसी व्यवस्था में प्रजा सुरक्षित नहीं हो सकती क्योंकि जहाँ सही-गलत को परखने की कोई कसौटी न हो ऐसे विवेक शून्य प्रशासन में निश्चित रूप में अराजकता का ही साम्राज्य होगा।

2. ध्रुवस्वामिनी

जयशंकर प्रसाद द्वारा रचित यह नाटक सन् 1933 में लिखित रूप में प्रकाशित हुआ। प्रसाद जी ने इस नाटक के माध्यम से गुप्तकालीन इतिहास के उन पक्षों को सामने रखा जिनसे अधिकतर इतिहासकार अनभिज्ञ हैं। वर्तमान समय में हम जिस नारी सशक्तीकरण की बात करते हैं उसे वर्षों पहले जयशंकर प्रसाद ने अनुभव कर लिया था और अपने नाटक के जरिए अपनी सोच को अभिव्यक्त किया।

'ध्रुवस्वामिनी' में विदेशी आक्रांता से संघर्ष की कहानी है। गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् शिखरस्वामी नामक षड्यन्त्रकारी अमात्य के सहयोग से रामगुप्त राज्य का उत्तराधिकारी बन जाता है। केवल इतना ही नहीं बल्कि वह ध्रुवस्वामिनी से विवाह तक कर लेता है जो कि गुप्त वंश के वास्तविक उत्तराधिकारी चन्द्रगुप्त के साथ निश्चित हुआ था। यहाँ गुप्त वंश के सम्राट् रामगुप्त उस राज्यव्यवस्था के प्रतीक रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं जो साम्राज्यवादी ताकतों के सामने बिना लड़े घुटने टेक देता है। युद्ध से बचने के लिए वह ध्रुवस्वामिनी को उपहार रूप में देना चाहता है। यह उसकी अयोग्यता का प्रतीक है। प्रसाद ने इस नाटक के जरिए स्त्री जीवन से जुड़ी समस्याओं को उजागर किया है। न केवल इतना बल्कि उन्होंने स्त्री के पुनर्विवाह का पहलू भी सामने ला कर रख दिया। इस नाटक के मूल में नारी स्वातंत्र्य को रखा गया है साथ ही इसमें राष्ट्रीयता की भावना को भी अभिव्यक्ति मिली है।

3. तांबे के कीड़े

भुवनेश्वर प्रसाद कृत 'तांबे के कीड़े' का प्रकाशन सन् 1946 में हुआ। यह एक असंगत नाटक है। 'तांबे के कीड़े' के माध्यम से भुवनेश्वर प्रसाद ने वर्तमान युग की ट्रेजेडी, अव्यवस्था और विघटन, भय-निराशा, टूटते रिश्तों के दर्द को तीव्र रूप में व्यक्त किया है। यह समकालीन नाट्यशैली से भिन्न एक संश्लिष्ट संवेदनाओं का नाटक है। यह एक नायकत्वहीन रचना है। मंच पर केवल एक स्त्री हाथ में बड़ा-सा झुनझुना लिए आती है और शेष पात्र मंच पर

नहीं आते परन्तु उनके स्वर सुनाई देते हैं जिसमें इन्सान के हर वर्ग की गहरी अन्तर्व्यथा छिपी है। अनाउंसर जीवन की हसीन, घायल और खून बहते हुए संगमरमर की बातें करती है और पति-पत्नी 'भय' से भयभीत हैं कि उनकी आत्मा और शरीर से जो निकलेगा वह उन्हें मार डालेगा। प्रस्तुत नाटक में मृत्यु-भय प्रमुख है और सारे प्रसंग असंगत से भरे हुए हैं।

4. कोणार्क

'कोणार्क' एक ऐतिहासिक नाटक है। जगदीशचन्द्र माथुर कृत इस नाटक का प्रकाशन सन् 1951 में हुआ। यह नाटक मध्यकालीन युग के ऐतिहासिक कोणार्क के सूर्य मंदिर के बनने और बिगड़ने की कथा व्यक्त करता है। यह मंदिर अपनी वास्तुकला के लिए जाना जाता है। नाटक में धर्मपद नाम का युवक है जो कि एक कुशल शिल्पी है और वह चाहता है कि कोणार्क के शिखर स्थापित हो जाने पर उसे बस एक दिन के लिए प्रधान शिल्पी आचार्य विशु उसे अपने सारे अधिकार दे दें। उत्तर में आचार्य विशु यह कहते हैं कि यदि कोणार्क स्थापित हो जाता है तो केवल एक दिन ही नहीं बल्कि हमेशा के लिए वो अधिकार धर्मपद के हो जाएँगे। शिल्पी महाराज नरसिंह देव को इस तथ्य से अवगत कराता है कि शिल्पियों को मुद्राएँ मिलनी बंद हो गई है और जिससे वे काफी त्रस्त हैं। कलिंग नरेश चालुक्य के विश्वासघाती रूप को नाटक में दिखाया गया है। जब आचार्य विशु को पता चलता है कि युवक शिल्पी उसी का पुत्र हो तो उसे गर्व महसूस होता है। अंत में चालुक्य और उसके साथियों का विनाश

होता है और जिन पाषाण खण्डों को विशु ने जीवन प्रदान किया उसी पर उसे मृत्यु शैय्या मिली।

रंगमंच की दृष्टि से यह काफी महत्त्वपूर्ण नाटक है क्योंकि 'कोणार्क' के रंगमंच पर प्रस्तुत होने के बाद ही नाटक रंग सापेक्ष और दर्शक सापेक्ष बन पाए। प्रस्तुत नाटक का नायक एक सर्वहारा मजदूर वर्ग का प्रतिनिधि चरित्र है जिसके चरित्र में मामूली न्याय से वंचित सामाजिक अस्तित्व के प्रति गहरी चिंता मिलती है। यह नाटक कोणार्क मंदिर के विनाश के पीछे के रहस्यों से दर्शकों को अवगत कराता है। विडम्बना यह थी कि मंदिर का विनाश उन्हीं हाथों से हुआ जिन्हें राजा ने अद्‌भुत रचना के लिए अनेक बार पुरस्कृत किया था।

5. अंधायुग

यह एक गीति-नाट्य है तथा इसके रचनाकार धर्मवीर भारती हैं। इसका प्रकाशन सन् 1955 में हुआ। इसमें महाभारत युद्ध के अट्ठारहवें दिन की संध्या से प्रभास-तीर्थ में कृष्ण के देहावसान के क्षणों तक की कथा है। इसमें युद्ध के औचित्य को चुनौती दी गई है। प्रस्तुत गीति-नाट्य में मनुष्य की भावनाओं का सजीव चित्रण देखने को मिलता है। हालांकि गीता में कृष्ण ने अर्जुन से सत्य के लिए युद्ध करने का संदेश दिया हो परन्तु भयानक विध्वंस देखकर सबका मन खिन्न हो गया था। प्रस्तुत नाटक में युद्ध और उसके बाद की समस्याओं और मानवीय महत्त्वाकांक्षा को प्रस्तुत किया गया है। जब-जब युद्ध होता है, तब-तब मनुष्य त्रासद स्थितियों से रूबरू होता है। प्रत्येक युद्ध के बाद मानव पुनर्विचार

करने के लिए प्रेरित होता है कि क्या वे जीवन-मूल्य युद्ध की असाधारण परिस्थितियों में सुरक्षित रह पाए, जिनके लिए उसे युद्ध में प्रवृत्त होना पड़ा।

'अंधायुग' की रचना का आधार ही द्वितीय विश्व युद्ध है। द्वितीय विश्वयुद्ध के अंतिम चरण में जापान के दो शहरों हिरोशिमा और नागासाकी पर परमाणु बम-विस्फोट के रूप में जो अकल्पनीय मानव त्रासदी घटित हुई, उसकी गूँज अंधायुग में भी स्पष्ट रूप से सुनाई देती है, जब व्यास अश्वत्थामा को 'ज्ञात क्या तुम्हें परिणाम इस ब्रह्मास्त्र का'? कह कर ब्रह्मास्त्र के प्रयोग के दुष्परिणामों के प्रति चेतावनी देते हैं। युद्ध के पश्चात् पराजित जनता की कुंठा, निराशा, पीड़ा तथा अवसाद स्वाभाविक ही थे परन्तु विजयी राष्ट्रों की जनता ने भी यही सब महसूस किया। युद्ध के उपरांत जो अंधायुग अवतरित हुआ उसमें स्थितियाँ, मनोवृत्तियाँ तथा आत्माएँ सभी विकृत हैं। नाटक के मुख्य पात्र यानी कृष्ण, संजय, धृतराष्ट्र, अश्वत्थामा, गान्धारी आदि प्रत्यक्ष रूप से आज के समय के पात्रों से मेल खाते हैं।

6. अंजो दीदी

उपेन्द्रनाथ अश्क कृत 'अंजो दीदी' सन् 1955 में प्रकाशित हुआ। नाटक की मुख्य पात्रा अंजली है। अंजली का चरित्र कुछ इस प्रकार है कि वह अत्यधिक अनुशासनप्रिय है। उनका मानना है कि जीवन में सब कुछ नियंत्रित, व्यवस्थित तथा अनुशासित होना चाहिए। अत्यधिक अनुशासनप्रियता कहीं-न-कहीं मशीनीकरण का प्रतीक बन जाता है। ये मान्यताएँ एवं विधि-निषेध उन्हें अपने

नाना से संस्कार रूप में मिलते हैं जिसे वह आत्मसात कर अपने तथा दूसरों के जीवन के मानदण्ड रूप में स्वीकार कर चुकी है। अंजली की कुछेक आदतें उसके व्यक्तित्व के तानाशाही रूप को व्यक्त करती है। नाटक के अनुसार उसके कठोर दमन को सबसे ज़्यादा उसके पति और बेटा नीरज झेलते हैं।

नाटक में एक और पात्रा है ओमी, जिसे बिल्कुल अंजली का ही प्रतिबिम्ब कहा जा सकता है। परन्तु फर्क इस बात का है कि उसमें अंजली जैसा अखण्ड अहम् और आतंकपूर्ण व्यक्तित्व नहीं है। परन्तु ओमी ने जो सफलता प्राप्त की उसे अंजली अपने जीवन में प्राप्त न कर सकी। पति के शराब की आदत के चलते अंजली का दाम्पत्य जीवन कष्टमय हो जाता है और परेशान होकर वह अंत में आत्महत्या कर लेती है। यह कहा जा सकता है कि अश्क जी ने इस नाटक के माध्यम से परम्परा का भार ढ़ोने वाले दम्पत्तियों के गार्हस्थ्य जीवन की असफलता को समाज के समक्ष प्रस्तुत किया है।

7. आषाढ़ का एक दिन

सन् 1958 में प्रकाशित मोहन राकेश की रचना 'आषाढ़ का एक दिन' का नायक कालिदास है और नायिका मल्लिका। कालिदास के माध्यम से मोहन राकेश ने यह बताने की कोशिश की है कि संवेदनशील साहित्यकार अपनी सामाजिक परिस्थितियों के कारण राज्य और सत्ता के सुख का मोह त्याग नहीं पाता और यही मोह और सुख की लालसा उसके सृजनशील व्यक्तित्व को पनपने नहीं देती। राज्याश्रय स्वीकार करते ही इसका प्रतिकूल प्रभाव उनकी रचनाओं पर

पड़ने लगता है। राज्याश्रय स्वीकार करने से पहले वह ऊहापोह की स्थिति में सोचते हैं कि राज्य और सत्ता की आशाओं, अपेक्षाओं के कारण कहीं वे अपनी जड़ों से उखड़ न जाएँ और कहीं वे अपने मौलिक व्यक्तित्व को न खो बैठें और कुछ हद तक ऐसा होता भी है। यही कारण है कि कालिदास को सुख और सम्मान के शीर्ष पर पहुँचकर भी कभी संतोष नहीं मिल पाया।

इस नाटक में कालिदास और मल्लिका के अलावा दंतुल, प्रियंगुमंजरी, मातुल, अम्बिका, विलोम जैसे पात्र भी हैं जो कुल मिलाकर आधुनिक मानव की विभिन्न प्रवृत्तियों को दर्शाते हैं। अवसरवादिता, अतिव्यावहारिकता तथा भौतिक सुख-सुविधाओं के प्रति ललक आधुनिक मानव की मुख्य प्रवृत्ति है लेकिन इस मार्ग पर चलकर उसे क्षणिक सुख के अलावा कुछ नहीं मिलता। प्रस्तुत नाटक के माध्यम से मोहन राकेश ने आधुनिकता और समकालीन अनुभव के विविध आयामों को व्यक्त करने का प्रयास किया है।

8. मादा कैक्टस

डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल कृत 'मादा कैक्टस' एक प्रतीक नाटक है जो सन् 1959 में प्रकाशित हुआ। नाटक में स्त्री 'मादा कैक्टस' का और पुरुष 'नर कैक्टस' का प्रतीक है। 'कैक्टस' नए इन्सानों का प्रतीक है। अरविंद एक चित्रकार है तथा उसके लिए समाज की पुरानी मान्यताओं का कोई महत्त्व नहीं। वह विवाहित है परन्तु अपनी पत्नी सुजाता को अपनी कला और प्रतिभा के विकास में बाधक मानकर उसे छोड़ देता है। परन्तु वह स्त्री से अलग नहीं रह

पाता और अपनी छात्रा मीनाक्षी से अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए संबंध बनाता है। उसकी पत्नी कवि एवं उपन्यासकार दिवाकर को पति बना लेती है और दिवाकर के कर्मक्षेत्र में उसकी प्रेरणा शक्ति बन जाती है। दूसरी तरफ मीनाक्षी अरविंद की झूठी मान्यताओं का शिकार बन जाती है।

वनस्पतिशास्त्र के अनुसार मादा कैक्टस के सम्पर्क में आने से नर कैक्टस सूख जाता है और सूख जाने के डर से ही अरविंद अपनी पत्नी सुजाता को छोड़ देता है। परन्तु यह नियम उलट जाता है जब अरविंद के सम्पर्क में आकर मादा कैक्टस मीनाक्षी सूख जाती है। यानी अरविंद के स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की मान्यताएँ गलत सिद्ध हो जाती है। देखा जाए तो नई मान्यताओं का दावेदार अरविंद एक साथ दो लोगों की जिन्दगी निरर्थक बना देता है। पुरुष की सामन्ती मनोवृत्ति से नारी-मुक्ति इस नाटक का मुख्य मुद्दा है।

9. त्रिशंकु

ब्रजमोहन शाह कृत 'त्रिशंकु' सन् 1973 में प्रकाशित हुआ। इस नाटक के माध्यम से ब्रजमोहन शाह यह कहना चाहते हैं कि आज देश, समाज, धर्म, ईमान सब त्रिशंकु के समान अधर में लटक रहे हैं। इसे एक समस्या नाटक कहना उचित होगा क्योंकि एक ओर तो इसमें युवा पीढ़ी का संघर्ष और निरर्थकता बोध चित्रित है तथा दूसरी ओर यह भ्रष्ट सामाजिक राजनीतिक चरित्र को भी व्यक्त करता है। नाटक में भ्रष्टाचारी समाज के एक-एक अंग पर प्रहार

किया गया है। समाज के विभिन्न वर्ग अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए युवा वर्ग को गुमराह करते हैं।

मानव जीवन की मूलभूत आवश्यकता यानी रोटी, कपड़ा और मकान की माँग करने वाली असहाय जनता पर लाठी चार्ज करवाया जाता है। नेताओं द्वारा 'गरीबी हटाओ' के नाम पर केवल झूठे वादे किए जाते हैं। शिक्षा की व्यवस्था और नौकरी की माँग करने वाले विद्यार्थियों को जवाब में गोली और आँसू गैस मिलते हैं। भ्रष्टाचार और भाई-भतीजावाद के चलते योग्य व्यक्ति ठोकर खाने पर मजबूर है और सम्पन्न परिवार का अयोग्य व्यक्ति उच्च पद पर आसीन है। नाटक का पात्र युवक परिस्थितियों के चलते किसी नाटक कम्पनी में काम करने लगता है जिस दौरान वह विभिन्न वर्ग स्तर के लोगों के सम्पर्क में आता है और वह लोगों के भ्रष्ट होने का कारण ढूँढ़ने की कोशिश करता है। शिक्षा की ऊँची डिग्री और बेकारी के बीच वह स्वयं को त्रिशंकु के समान निराधार पाता है।

10. आधे अधूरे

मोहन राकेश द्वारा रचित नाटक 'आधे अधूरे' सन् 1969 में प्रकाशित हुआ। प्रस्तुत नाटक आधुनिक मध्यवर्गीय परिवार की विसंगतियों को यथार्थपरकता के साथ उद्घाटित करता है। नाटक की मूल संवेदना आर्थिक अभावग्रस्तता और आकांक्षा, परिवेश और मानसिक तनाव में आधी-अधूरी जिन्दगी जीते पात्रों द्वारा पूर्णता प्राप्ति की लालसा में आपसी टकराहट है। पति के रूप में पत्नी को

सम्पूर्ण पुरुष की असफल तलाश तथा इस बीच परिवार के अन्य सदस्यों का एक दूसरे से कटाव इस नाटक का केन्द्र बिन्दु है।

नाटक के मुख्य पात्र महेन्द्रनाथ, उसकी पत्नी सावित्री, दो बेटियाँ और एक बेटा है। परिवार का हर सदस्य अपने को अधूरा महसूस कर पूर्ण करने की चेष्टा करता है। सावित्री के अनुसार महेन्द्रनाथ बेकार आदमी है। घर से बाहर निकलने पर सावित्री चार पुरुषों के सम्पर्क में आती है जो अपने-अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए उसका उपयोग करते हैं और सावित्री को अहसास हो जाता है कि कोई भी पूर्ण नहीं है। अंत तक आते-आते नाटक के सभी पात्र वापस घर लौट आते हैं जो इसय बात का प्रतीक है कि ये सभी पात्र स्वतंत्र रहकर भी कहीं-न-कहीं पारिवारिक बंधन में बंधे हैं। नाटक में बड़ी कुशलता से यह दिखाया गया है कि किस प्रकार स्त्री-पुरुष संबंध बनते और बिगड़ते हैं। यह नाटक मानवीय सन्तोष के अधूरेपन का रेखांकन है। एक तरह से यह बताने का प्रयास किया गया है कि जो लोग जिन्दगी से बहुत कुछ उम्मीदें रखते हैं, उनकी तृप्ति अधूरी रहती है। प्रस्तुत नाटक हमारे समाज, परिवार, व्यक्ति और उनके पारस्परिक सम्बन्धों में लगातार आ रहे बदलाव का मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय प्रस्तुतीकरण है। दूसरी तरफ इस बात का संकेत भी मिलता है कि नारी को स्वतंत्रता तभी मिल सकती है जब वह आर्थिक रूप से किसी पर आश्रित न हो। वर्तमान में थोड़ी बहुत खट-पट तो हर घर में होती है परन्तु यदि परिवार में अनुशासन का माहौल हो तो बिखराव से बचा जा सकता है।

11. एक और द्रोणाचार्य

सन् 1971 में प्रकाशित शंकर शेष का नाटक 'एक और द्रोणाचार्य' वर्तमान एवं महाभारत कालीन शिक्षा प्रणाली के तुलनात्मक रूप को हमारे सामने प्रस्तुत करता है। नाटक में दोनों कथाएँ एक दूसरे के समानान्तर चलती है। शंकर शेष ने इस नाटक के जरिए वर्तमान की स्थितियों को ऐतिहासिक, पौराणिक स्थितियों से जोड़ने का सफल प्रयास किया है। समय बदल जाता है परन्तु परिस्थितियाँ नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि युग चाहे वर्तमान का हो या महाभारतकालीन हो, बेशक मनुष्य बदल जाता है परन्तु परिस्थितियाँ वैसी ही रहती हैं। प्रस्तुत नाटक में अरविंद - द्रोणाचार्य, चन्दू -एकलव्य, विमलेन्दु - अर्जुन, अनुराधा -द्रौपदी तथा प्रेसिडेन्ट - दुर्योधन का प्रतीक है।

प्रस्तुत नाटक आज की शिक्षा व्यवस्था पर व्यंग्य है। कौरव-पांडवों और एकलव्य को शिक्षा देते वक्त द्रोणाचार्य ने अलग-अलग व्यवहार किया था जिससे तत्कालीन शिक्षक की एक विशेष प्रतिमा बन गई। शंकर शेष ने इस नाटक के माध्यम से तत्कालीन द्रोणाचार्य और अब के शिक्षकों पर कटाक्ष किया है। प्रो. अरविन्द अपनी जिन्दगी को सँवारने के लिए समझौता-परस्त नीतियों का सहारा लेते हैं। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि युग चाहे जो भी हो परिस्थितियाँ वैसी की वैसी ही रहती हैं। महाभारत में एकलव्य का अंगूठा कटा था और यहाँ चन्दू को कॉलेज से बाहर निकाल दिया जाता है। महाभारत काल में द्रौपदी से लेकर आज तक महिलाओं, युवतियों का शारीरिक शोषण हो रहा है।

भ्रष्टाचार हर कहीं फैल चुका है। राजनीतिक घुसपैठ के चलते शिक्षा में भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिला है। प्रस्तुत नाटक में आधुनिक शिक्षा व्यवस्था तथा उसकी असंगतियों, विसंगतियों पर प्रहार किया गया है।

12. सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक

सुरेन्द्र वर्मा द्वारा रचित 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' सन् 1972 में प्रकाशित हुआ। वैसे तो इस नाटक का परिवेश आधुनिक है। पति की नपुंसकता और पत्नी का शारीरिक असंतोष इस नाटक का केन्द्र बिन्दु है। नियोग प्रथा के अनुसार, पत्नी का धर्मनटी बनकर एक रात के लिए किसी भी उपपति को चुन लेना इस नाटक का महत्त्वपूर्ण प्रसंग है। नाटक का पहला अंक सूर्यास्त की घटना प्रस्तुत करता है, दूसरा अंक रात्रि और तीसरा अंक सूर्योदय की ओर संकेत करता है, यहाँ सूर्योदय शीलवती के समस्त संस्कारों के अस्त का प्रतीक है। पर-पुरुष से सम्बन्ध बनाते वक्त ओक्काक की मानसिक स्थिति और शीलवती के नए जीवन को जीने की अनुभूति को नाटककार ने बखूबी प्रस्तुत किया। इस नाटक के जरिए एक पूर्ण नारी और एक नपुंसक पुरुष के मानसिक द्वन्द्व को काफी प्रभावशाली रूप में चित्रित किया गया है।

प्रस्तुत नाटक के माध्यम से सुरेन्द्र वर्मा ने स्त्री-पुरुष संबंधों पर एक नए कोण से पुनर्विचार किया है। पुरुष का संयोग सुख पाकर शीलवती में जीने की नई आकांक्षा जन्म लेती है। शीलवती को समाज की मर्यादा, सीमा और सभी मूल्य व्यर्थ लगने लगते हैं और माता बनने का उसका भाव गौण हो जाता है।

नाटक में स्त्री-पुरुष के काम सम्बन्ध को दाम्पत्य सम्बन्ध से ऊपर दिखाया गया है।

13. तिलचट्टा

मुद्राराक्षस कृत 'तिलचट्टा' एक एब्सर्ड नाटक है जिसका प्रकाशन सन् 1973 में हुआ। इस नाटक का विषय स्त्री-पुरुष की विवाह सम्बन्धी टूटती मान्यताएँ हैं। नाटक में मुद्राराक्षस ने प्रेम और विवाह के सम्बन्ध में परम्परागत मूल्यों के प्रति विरोध प्रकट किया है। देव और केशी पति-पत्नी है। अंधेरे में देव को बिस्तर पर तिलचट्टे काटकर परेशान करते हैं। सोने पर उसे अजीब-अजीब सपने आते हैं। धीरे-धीरे यह बात सामने आती है कि देव नपुंसक है और उसकी नर्स पत्नी का एक काले डॉक्टर से सम्बन्ध है जिसे वह नफरत करता है। परन्तु नपुंसक होने पर भी देव की तीव्र इच्छा है कि उसकी पत्नी माँ बने और वह लोगों के सामने बाप कहला सके। केशी के पहले बच्चे के जन्म के वक्त वह बड़ी खुशी से अस्पताल जाता है परन्तु बच्चे के विकृत रूप को देखकर वह उसका गला घोंट देता है। केशी के दूसरे गर्भ पर भी उसकी बहुत आशाएँ हैं परन्तु उसकी अशांत मनोस्थिति के चलते केशी गर्भपात का इन्जेक्शन ले लेती है। इसकी प्रतिक्रिया में देव बहुत सारी नींद की गोलियाँ खाकर आत्महत्या कर लेता है।

इस नाटक के केन्द्र में मानसिक कुंठाएँ और यौन-विकृतियाँ रूपायित हैं। जिस प्रकार तिलचट्टा सड़न-सीलन भरे कोने में रहता है, ठीक उसी प्रकार

नैतिकता से दबी मनुष्य की यौन भावनाएँ उसके भीतर गहराई में छिपी रहती है। नाटक में स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों की मीमांसा तो की ही गई है साथ ही समकालीन युग के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिवेश में व्याप्त विसंगति तथा व्यवस्था को भी चित्रित किया गया है।

14. बकरी

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना द्वारा रचित 'बकरी' हमारे देश की राजनीतिक व्यवस्था पर करारा व्यंग्य है जिसका प्रकाशन सन् 1974 में हुआ। नाटककार ने देश की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों को आधार बनाकर आम जनता के असंतोष और विद्रोह के भाव को प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत नाटक में लूटपाट करने वाले तीन डकैत दुर्जन सिंह, कर्मवीर सिंह और सत्यवीर दीवान जी से कहकर एक बकरी का इंतजाम करवाते हैं। ये चारों व्यक्ति मिलकर पूरे गाँव में यह प्रचार कर देते हैं कि ये गाँधी जी की बकरी है क्योंकि इसकी माँ की माँ की माँ की माँ गाँधी जी के पास थी। इस प्रकार ये गाँव वालों को काफी बेवकूफ़ बनाते हैं। गाँव वाले अपना सब कुछ दे देते हैं। कर्मवीर चुनाव लड़ता है और संयोग से जीत भी जाता है। मनोज नामक एक पात्र लोगों को समझाता है कि किस प्रकार उन्हें गुमराह किया जा रहा है।

प्रस्तुत नाटक में सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार स्वातंत्र्योत्तर राजनीतिक व्यवस्था गाँधीवादी विचारधारा का मुखौटा लगाकर लोगों को गुमराह कर रहे हैं। यह केवल एक प्रहसन ही नहीं

बल्कि एक संदेश भी है कि किस प्रकार स्वतंत्रता के बाद राजनीतिक अनैतिकता ने जन्म लिया। इस नाटक में वामपंथी विचारधारा की झलक साफ देखने को मिलती है। नाटककार चाहता है कि देश की राजनीतिक परिस्थिति में सुधार हो तथा ज्ञान, शिक्षा, जागरूकता और गाँधीवादी विचारधारा के जरिए लोग अपना विकास कर सके जिससे कि वे स्वतंत्रता का वास्तविक अर्थ समझ सकें।

15. सिंहासन खाली है

सन् 1974 में प्रकाशित 'सिंहासन खाली है' की रचना सुशील कुमार सिंह ने की। यह एक प्रतीकात्मक नाटक है जो कि व्यंग्यात्मक शैली में लिखी गई है। इस नाटक का मुख्य स्वर देश के नेताओं द्वारा अपनाए जाने वाले राजनीतिक चोंचले, झूठे वादे, आडम्बर तथा खोखले नारे और झूठ-मूठ के आश्वासनों का पर्दाफाश है। नाटक की शुरुआत में खाली सिंहासन की सूचना मिलती है और इसके लिए सबसे योग्य पात्र के तलाश की घोषण भी हो जाती है। दर्शकों में से हर कोई व्यक्ति आता है और स्वयं को सिंहासन के योग्य बताने लगता है। आगे चुनाव की दोषपूर्ण प्रणाली को प्रस्तुत किया जाता है। सभी दावेदार आपस में लड़-झगड़ रहे होते हैं, तब सूत्रधार कहता है कि हमें संघर्ष नहीं सुपात्र चाहिए क्योंकि युद्ध के माहौल से प्रलय आ सकता है। नाटक में मानवता की शांति की रक्षा कर सकने वाले योग्य व्यक्ति की तलाश चलती है और इसी तलाश में समाप्ति भी हो जाती है।

यह ऐसा नाटक है जो जिस बिन्दु से शुरु होता है उसी बिन्दु पर आकर समाप्त हो जाता है। सिंहासन खाली का खाली ही रह जाता है जिससे यह व्यंग्यार्थ निकलता है कि आज जो भी सिंहासन पर बैठा है, वास्तव में वह छल प्रपंच के दम पर बैठा है न कि अपनी योग्यता के दम पर। यह नाटक समाधान के स्थान पर नए-नए प्रश्न खड़े करता है। सिंहासन के लिए जनता और सत्ता का आपस में संघर्ष अनवरत काल से जारी है। सिंहासन पर बैठते ही वे जनता की रक्षा करने की बजाय उनके भक्षक बन जाते हैं।

16. कबीरा खड़ा बाजार में

भीष्म साहनी कृत 'कबीरा खड़ा बाजार में' सन् 1985 में प्रकाशित हुआ। इस नाटक में भीष्म साहनी ने कबीर के जीवन चरित्र को आधार बनाया है। प्रस्तुत नाटक में भीष्म साहनी ने मध्यकालीन भारतीय समाज के अंधविश्वास, रूढ़ियों, रीतियों और राजकीय अत्याचारों का चित्रण किया है। नाटक के माध्यम से कबीरदास के महान् चरित्र पर प्रकाश डाला गया है। नाटक की कथा जुलाहों की बस्ती से शुरु होती है। एक जुलाहा बाहर से आता है और नूरा को बताता है कि मंदी की वजह से बाज़ार में माल नहीं बिक रहा। कोतवाल से कबीर की नोंक-झोंक हो जाती है और उसे कोड़े खाने पड़ते हैं। इसी प्रकार एक दिन महंत की सवारी निकल रही होती है, आगे चल रहे जटाधारी साधु के हाथ में चाबुक है और वह निम्न जाति के लोगों को रास्ते से हटाता जाता है। इसका विरोध करने पर दो पण्डे कबीर को उठा ले जाते हैं। इस प्रकार कबीर के क्रान्तिकारी

स्वभाव को यहाँ देखा जा सकता है। यही नहीं बल्कि आगे भी कई ऐसे अवसर आते हैं।

प्रस्तुत नाटक साम्प्रदायिकता और ऊँच-नीच के भेद-भाव पर करारा प्रहार है। कबीर ने न केवल हिन्दू बल्कि मुसलमानों के संकीर्ण धार्मिक संस्कारों का भी विरोध किया। हर प्रकार के अत्याचारों को सहते हुए कबीर अपने मार्ग पर बढ़ते रहे।

17. कोर्ट मार्शल

स्वदेश दीपक द्वारा रचित नाटक 'कोर्ट मार्शल' का प्रकाशन 1991 में हुआ। इस नाटक के केन्द्र में हमारे देश के सामाजिक ढाँचे को रखा गया है जहाँ जातिगत भेदभाव के चलते घृणा की भावना का जन्म होता है। नाटक में रामचंद्र नाम का एक पात्र है जो कि निम्न जाति का होने की वजह से अपमानित हो अपने अफसर कैप्टन वर्मा को मार देता है और कैप्टन कपूर को घायल कर अदालत में अपना अपराध स्वीकार कर लेता है। जाति प्रथा से जन्मी घृणा के शिकार रामचन्द्र प्रतिशोध की उत्तेजना में जो कदम उठाता है उसके बदले में उस पर फौजी मुकदमा चलता है जिसे कोर्ट मार्शल कहा जाता है।

इस नाटक में हमारे देश की सामाजिक व्यवस्था तथा न्याय व्यवस्था का रूप प्रस्तुत किया गया है जिसे देखकर यह अंदाजा लगाया जा सकता है कि देश की न्याय व्यवस्था कितनी कमज़ोर है। रामचंद्र के हत्यारा बनने की मूल वजह

पर विचार करने पर जातिगत भेदभाव, अन्याय, अत्याचार, शोषण का साफ पता चलता है। अत: नाटक के माध्यम से हमारे समक्ष एक दर्पण रखा गया है जिस पर झाँकने पर सचमुच शर्म सी आ जाती है। अपराध की मूल वजह सामने आने पर मानो किसी फौजी का नहीं बल्कि सामाजिक ढाँचे का कोर्ट मार्शल होता हुआ नज़र आता है।

18. उत्तरप्रियदर्शी

'उत्तरप्रियदर्शी' युद्ध और शांति पर केन्द्रित एक विशाल चिंतन है। अज्ञेय द्वारा लिखित यह गीतिनाट्य सम्राट् अशोक के अहिंसा और बौद्ध धर्म के मार्ग का अनुसरण करने पर केन्द्रित है। 'उत्तरप्रियदर्शी' के कथानुसार, अपने भाइयों की हत्या के पश्चात् अशोक यानी प्रियदर्शी पूरे भारतवर्ष के आसपास के विद्रोहियों को जीतने निकल पड़ा। उन्होंने चार वर्षों तक लगातार युद्ध लड़ा और पाँचवें वर्ष में सिंहासन पर चढ़ाई की। फिर उन्होंने अपने लोगों से एक निष्पादन कक्ष बनाने को कहा जहाँ आत्मसमर्पण नहीं करने वाले लोगों को अपने पापों के अनुसार सजा दी जा सके। हालांकि यह भूमि के नीचे था परन्तु इसकी ऊपरी मंजिल जन्नत की तरह दिखती थी। उसके बाद सम्राट ने घोर नामक सबसे जालिम व्यक्ति को जल्लाद घोषित किया। वह दिखने में दानव जैसा और काफी क्रूर स्वभाव का था। उसे दरबार में पेश किया गया, जहाँ उसे इस बात का आदेश दिया गया कि उसे कैदियों को यातना देनी होगी और निर्दयतापूर्वक मारना

होगा। सम्राट ने कहा कि आने वाले हर व्यक्ति को यातना देनी होगी फिर चाहे सम्राट स्वयं ही क्यों न कदम रख दें।

एक दिन एक थका हुआ भिक्षु विश्राम करने के लिए वहाँ रुक जाता है जहाँ नरक के कर्मचारी उसे कैद कर लेते हैं और अंदर ले जाते हैं। बाद में जब नरक के कर्मचारियों ने भिक्षु को यातना देने की कोशिश की तो वह चुपचाप खड़ा मुस्कराता रहा। उन्होंने घोर को बुलाया और उसने भिक्षु को खौलते तेल में फेंक दिया। हालांकि भिक्षु उसमें से बाहर निकल एक अस्थायी कमल पर विराजमान थे। इससे घबराकर कर्मचारी ने सम्राट को बुलाया और सम्राट ने नरक में प्रवेश किया। परन्तु इससे पहले कि वे कुछ कहते जल्लाद अट्टहास करने लगा और सम्राट की ओर अपनी तलवार उठा ली। सम्राट एक तरफ भिक्षु की ओर झुक गए। वहाँ उन्हें एक अदृश्य तथा अनंत आनंद का अहसास हुआ। उन्होंने महसूस किया कि उनका मन खुद-ब-खुद शांत हो रहा है। उन्होंने उस भिक्षु को झुककर नमन किया जिन्होंने धर्म और शांति का उपदेश दिया। तबसे सम्राट अशोक का हृदय परिवर्तन हुआ और धर्म की राह पर चल दिए। धर्म की शिक्षा ने उन्हें पूरे विश्व का सर्वोत्तम सम्राट बना दिया।

19. महाभोज

महाभोज स्वातंत्र्योत्तर भारत में सामाजिक मोहभंग और राजनीतिक विश्वासघात की झकझोर देने वाली कहानी है। हालांकि यह कहानी उपन्यास के रूप में प्रसिद्ध हुई परन्तु बाद में मन्नू भण्डारी ने स्वयं इसका नाट्य रूपांतरण

किया। प्रस्तुत नाटक सरोहा में प्रचलित वर्ग तथा जाति विरोधी दलों का चीरफाड़ करता है। यह विधान सभा क्षेत्र राज्य की राजनीति का केन्द्र बन गया है। जमींदारों द्वारा दलितों की सम्पत्ति के विनाश को लेकर हल्ला बोल करने वाले दलित नेता बिसु की हत्या कर दी जाती है। जिसके चलते राज्य की सत्तारूढ़ पार्टी के अस्तित्व पर खतरा मंडराने लगता है। यह नाटक दलितों तथा अभिजात वर्ग के बीच अंतर्निहित विरोधाभास को ही नहीं बल्कि शासक वर्गों के बीच विरोधाभास को भी व्यक्त करता है। यहाँ एक प्रथा कायम है जो जमींदार वर्ग की सर्वोच्चता को बनाए हुई है।

समसामयिक राजनीतिक परिस्थितियों से संबंधित होने के कारण नाटक में राजनीतिक वातावरण की प्रमुखता है। दा साहब और सुकुल बाबू के किरदार के माध्यम से नाटक में यह दिखाया गया है कि एक राजनीतिज्ञ कितना खुदगर्ज और दुष्ट होता है। इसी के साथ हमारी वर्तमान पुलिस व्यवस्था को भी चित्रित किया गया है। पुलिस अपनी ड्यूटी के नाम पर केवल खानापूर्ति करती है और देश के नेता कठपुतलियों की तरह उनके इशारों पर टिकी हुई है। इसके साथ यदि पत्रकारिता की बात की जाए तो उसे देश का चतुर्थ स्तम्भ कहा जाता है परन्तु वर्तमान में उन्हें भी अपनी दुकानदारी चलाने से मतलब है। इस बात का प्रमाण नाटक में 'मशाल' समाचार के सम्पादक दत्ता बाबू ने बखूबी दिया।

महाभोज, जैसा कि नाम से ही पता चलता है कि यहाँ उस भव्य दावत की ओर इशारा किया जा रहा है जो कि जनता द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों द्वारा

आपस में बाँटा जाता है और ये नेता लोगों के भाग्य को नियंत्रित करते हैं। भावनाओं, व्यंग्य और प्रतीकात्मकता से भरा यह नाटक भारतीय राजनीति की व्याख्या करता है जो अपने गुण, मूल्य और सिद्धांतों को खो चुका है।

20. जिस लाहौर नहीं देख्या

यह नाटक हमारे सामने उस समय की कहानी को प्रस्तुत करता है जब पूरा शहर खाली हो चुका था परन्तु एक माँ अपने घर को छोड़कर नहीं जाती। प्रस्तुत नाटक लाहौर में एक बूढ़ी हिन्दू महिला की कहानी को दर्शाता है, जो 1947 में भारत-पाकिस्तान विभाजन के दंगों के दौरान अपने बेटे और परिवार को खो देती है लेकिन अपने घर को छोड़कर जाने से इन्कार कर देती है जो कि अब नव-निर्मित पाकिस्तान सरकार द्वारा किसी मुस्लिम शरणार्थी परिवार को दिया गया है जो लखनऊ (भारत) से आए हैं। विभाजन के चलते इस मुस्लिम परिवार को लखनऊ छोड़ना पड़ता है। इन्होंने भी काफी तकलीफें झेली हैं और बड़ी मुश्किलों से इन्हें लाहौर में किसी तरह एक घर मिलता है।

ये लोग उस बूढ़ी महिला को अपने घर से निकालने की कोशिश करते हैं परन्तु कोई फायदा नहीं होता। जल्द ही पूरा लाहौर रतन की माँ को माई कहकर पुकारने लगता है और माई अपने अनुभव और कौशल से लोगों की मदद करती।

धर्म की आड़ में अंधाधुंध नफरत के चलते माई को परेशान किया जाता है ताकि वह लाहौर छोड़कर भारत चली जाए। माई भी भारत जाने का मन बना

लेती हैं परन्तु उनके चाहने वाले उन्हें जाने नहीं देते। परन्तु कुछ दिनों बाद ही किसी रात मानो जैसे माई की आत्मा तृप्त हो गई हो, उनकी आत्मा उनके शरीर को त्याग देती है। माई की मृत्यु के साथ ही नाटक अपने अंतिम चरण पर पहुँच जाता है जहाँ सभी लोग उनके अंतिम संस्कार के लिए एक साथ आते हैं।

नाटक का कथानक काफी मजबूत है जो कि विभाजन, मातृभूमि, घर और इंसानियत पर केन्द्रित है। प्रस्तुत नाटक में विभाजन के दौरान भारत से पाकिस्तान तथा पाकिस्तान से भारत जाकर बसने वाले लोगों की दुर्दशा को दिखाया गया है।

'जिस लाहौर नहीं देख्या' विभाजन के समय की ऐसी दर्दनाक गाथा है जो कि नफरत, असहिष्णुता और कट्टरपंथ की गवाही देता है। हजारों-सैकड़ों लोग मारे गए .... कई लोग बेघर हुए। नाटक के जरिए घर का वास्तविक अर्थ बताया गया है। घर यानी वह स्थान जहाँ आप पैदा होते हैं और बड़े होते हैं .... जहाँ आपकी कई अनमोल यादें होती है ..... जहाँ आप शांति महसूस करते हैं तथा जिसे आप किसी भी परिस्थिति में कभी भी छोड़कर नहीं जाना चाहते।

मणिपुरी के मौलिक नाटक और उनकी परम्परा

आधुनिक मणिपुरी गद्य की विविध विधाओं के अन्तर्गत नाटक ने अपनी जो पहचान बनाई है वह पहचान उसे द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ही मिली है। यों तो प्राचीन परम्परा से ही मणिपुर में लोकनाट्य, नृत्य नाटिका और लोकमंच विद्यमान है परन्तु एक साहित्यिक विधा के रूप में नाटक की रचना के प्राचीन होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। कहा जाता है कि मणिपुर नाट्य साहित्य में नाट्य रूप का उदय बीसवीं शताब्दी के मध्य भाग से हुआ। एल. इबुङोहल कृत 'नरसिंह' (1922) को इसके पहले प्रमाण के रूप में लिया जा सकता है जो कि 30 सितम्बर, सन् 1925 को मणिपुर स्टेट पुलिस द्वारा दुर्गापूजा के उपलक्ष्य में राजभवन में प्रस्तुत किया गया था।[81] 'नरसिंह' से पहले के नाटक अधिकतर बांग्ला नाटक से अनूदित किए गए हैं।[82] इस पर कहा जा सकता है कि मणिपुर में आधुनिक ढंग के रंगमंच और नाटकों के विकास में बांग्ला रंगमंच और नाटकों की बड़ी अहम् भूमिका रही है। वैसे 'पगलिनी' को मणिपुरी का प्रथम व्यवस्थित नाटक माना जा सकता है क्योंकि इसमें एक सुसंगत कथा-योजना थी और इसका अंकों तथा दृश्यों में विभाजन हुआ था। 'पगलिनी' नामक यह नाटक एक स्कूल शिक्षक द्वारा लिखा गया तथा सन् 1905 में अन्य कई शिक्षकों ने मिलकर इसका

---

81 Irom Robindro Singh, Manipuri Literature : A Journey to Post Independence Period, Language in India, Vol. 13, 7 July 2013

82 Yumnam Nirmala Devi, Growth of Modern Manipuri Theatre and its Importance in Manipuri Society, Asian Journal of Multidisciplinary Studies, Vol. 4, Issue 6, May 2016

मंचन किया था। दूसरी तरफ ए. के. अमूबी सिंह के 'विजय मालती' को मणिपुरी का प्रथम सामाजिक नाटक कहा जाता है। एल. इबुङोहल कृत 'नरसिंह' ने मौलिक ऐतिहासिक नाटक-लेखन की नींव रखी। लगभग इसी समय के आस-पास हिजम अङाङ्हल सिंह का 'गौरांग' नाटक भी मंचित हुआ।

लाइरेनमयुम इबुङोहल सिंह ऐतिहासिक नाटककार थे। अपने नाटकों के लिए इन्होंने ऐतिहासिक घटनाएँ चुनी। देश प्रेम की भावना इनके मन में थी और इसी कारण इन्होंने अतीत के गौरव की गाथा को नाटकों के विषय के रूप में चुना। लाइरेनमयुम इबुङोहल जी के नाटक हैं - नरसिंह, बब्रुवाहन पोक्पा और युवराज टिकेन्द्रजीत। 'नरसिंह' नाटक में सन् 1819 के अवा द्वारा मणिपुर राज्य पर आक्रमण और सन् 1844 में नरसिंह द्वारा मणिपुर राज्य में शासन का उल्लेख मिलता है। सामान्य बोलचाल की भाषा होने पर भी इस नाटक की भाषा सुव्यवस्थित है। प्रस्तावना, गीत तथा हास्य-व्यंग्य के उल्लेख से नाटक में संस्कृत नाट्य परम्परा का प्रभाव मिलता है।

मणिपुरी नाट्य साहित्य में लाइरेनमयुम इबुङोहल सिंह के बाद लमाबम कमल (डॉ. कमल) का नाम उल्लेखनीय है। लमाबम कमल ने सन् 1924 में 'देवयानी' नामक नाटक लिखा परन्तु उस वक्त इस नाटक का मंचन नहीं हो पाया।[83] 'देवयानी' के माध्यम से डॉ. कमल ने तत्कालीन मणिपुरी समाज में

---

83 Arambam Somorendra, Indian Litrature, Vol. 44, No. 2 (196) (March-April, 2000) p. 33, Sahitya Akademi

छुआछूत की चरम सीमा को दिखाने का प्रयास किया है। इसमें महाभारत में वर्णित महाराज ययाति की महारानी देवयानी और शर्मिष्ठा की कथा है। यह नाटक तत्कालीन धार्मिक व्यवस्था के बुरे पक्षों को दिखाते हुए यह भी दिखाता है कि किस प्रकार ब्राह्मणवादी व्यवस्था के अन्तर्गत लोगों का शोषण किया जाता है। शासक वर्ग अपने हित के लिए नीति-नियमों को अपने अनुरूप ढाल लेते हैं, यह भी देखने को मिलता है। तत्कालीन समाज में ब्राह्मणों की प्रवृत्ति इतनी गिर चुकी थी कि वे कोई भी अच्छी तथा सुन्दर वस्तु देखते तो झट से कह बैठते थे कि अच्छी वस्तुएँ तो भगवान को चढ़ानी चाहिए। इस तरह से वे हमेशा धन-दौलत तथा वैभव जुटाने में लगे रहते तथा दूसरी ओर धर्म के नाम पर भोला-भाला मणिपुरी समाज उन्हें चढ़ाता रहता था।

मणिपुरी के प्रारम्भिक नाटककारों ने मुख्यतः पौराणिक तथा ऐतिहासिक कथानक चुने। इनमें सोरोक्खाइबम ललित, हिजम अङाङ्हल और सी एच. मयूरध्वज विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सोरोक्खाइबम ललित के प्रसिद्ध नाटकों के अन्तर्गत 'सती खोङ्नाङ', 'अरेप्प मरुप' आते हैं। उनका 'सती खोङ्नाङ' सत्य घटना पर आधारित नाटक है जिसमें कैना नाम की स्त्री की अपने मृत पति के चिता पर सती बन जाने की कथा है। नाटक में विनोद नाम का एक पात्र पति-पत्नी की समाधि स्थल पर एक पौधा लगाता है और इसी प्रकार इसका नाम पड़ा सती खोङ्नाङ। 'सती खोङ्नाङ' के बाद ललित जी ने हिजम इरावत के साथ मिलकर 'अरेप्पा मरुप' नाम का एक नाटक लिखा जिसमें समसामयिक समस्याओं का चित्रण मिलता है।

श्री ललित जी के बाद अराम्बम दरेन्द्र जी आते हैं। इन्होंने 'मोइराङ् थोइबी', 'भाग्यचन्द्र' और 'कौरव पराजय' नामक नाटक लिखे। इनमें से 'मोइराङ् थोइबी' मणिपुरी लोककथा पर आधारित है जिसमें खम्बा के युवावस्था से लेकर उसके विवाह तक का चित्रण है। दूसरी तरफ 'भाग्यचन्द्र' नाटक में वापसी की कथा है। चूँकि दरेन्द्रजीत कवि थे इसी वजह से उनकी शैली में काव्यात्मकता की छाप मिलती है।

नाटककार के रूप में यदि हिजम अङाङ्हल जी की बात की जाए तो उन्होंने चार नाटक लिखे - 'थाबल चोङ्बी', 'निमाई संन्यास', 'इबेम्मा' और 'पोक्तबी'। इन सभी नाटकों का एम. डी. यू. हाल में मंचन हुआ। 'इन चारों नाटकों में से 'थाबल चोङ्बी' और 'निमाई संन्यास' अनुपलब्ध है।'[84] 'इबेम्मा' में बिजोय नाम के अपव्यय करने वाले एक बेटे की कथा है जो दुनिया भर के पैसे खर्च कर पढ़ने के लिए बाहर तो जाता है परन्तु अपनी पढ़ाई को अधूरा ही छोड़ आता है और माता-पिता के द्वारा बात चलाई गई इबेम्मा नाम की लड़की के साथ विवाह कर लेता है। इबेम्मा शालीन स्वभाव की लड़की है परन्तु उसका पति अपने बाल्यावस्था की प्रेमिका लैमतोन को अब भी चाहता है जो कि इस वक्त एक विधवा है। इतना सब होने पर भी इबेम्म अपने पति के पक्ष में रहती है। परन्तु बिजोय उसे छोड़कर लैमतोन के पास रहने लगता है। दूसरी तरफ इबेम्म चाहती है कि मरने से पहले वह एक बार अपने पति को देख सके परन्तु

---

84 Singh Manihar Ch., A History of Manipuri Literature, p. 238

दुर्भाग्यवश उसकी मृत्यु हो जाती है। अङाङ्हल जी का अगला नाटक 'पोक्तबी' (सौतेली माँ) है जिसमें उन्होंने एक स्त्री की अटल निष्ठा और पवित्रता को केन्द्र में रखा है। लैमहल की शादी कुमार के साथ हो जाती है परन्तु कुछ समय पश्चात् वह अलग रहने लगती है। नाटक में लुखोइ नाम का एक पात्र है जो लैमहल को चाहता है। इससे उत्पन्न समस्या का यहाँ चित्रण मिलता है।

प्राचीन लोक आख्यानों, लोक कथाओं और पारम्परिक जनश्रुतियों को आधार बनाकर भी कुछ नाटक लिखे गए। ऐसे नाटकों में एच. तोम्बा जी के 'ताम्न', 'सायोन साफबा', 'पिदोनु', 'थाइनगी लैरांग', 'सजिक थबा' और ' केगे लम्जा' आदि लोकप्रिय है। एम. बीरमंगोल सिंह ने 'हेन्जूनहा', 'खम्नू' और 'याइथिङ् कोनू' लिखा। सन् 1954 में नेशनल ड्रामा फेस्टीवल, दिल्ली में 'हाओरंग लैशंग साफबी' को लोक-नाट्य के वर्ग में प्रथम पुरस्कार मिला।

इसके पश्चात् आधुनिक समाज पर आधारित कुछ नाटक रचे गए जिसमें समाज की आलोचना का पुट देखने को मिलता है। इसके अन्तर्गत रॉक्सी थिएटर का 'थाबल्लई'; रूपमहल थिएटर का 'नुङ्शी लमन', 'नोङ्दम', 'बसन्त बिमोल'; मणिपुर ड्रमेटिक यूनियन का 'इङाङ्थक्पी चेक्ला', 'पोनगी चेक्ला', 'राशी' और 'बसन्त पंचमी'; आर्यन थिएटर का 'थम्बाल', कृष्ण कुमारी', 'इबेम्मा मणि' तथा 'बी. ए. अनी' आदि आते हैं।

मणिपुरी नाट्य साहित्य में जी सी तोङ्ब्रा के आने से एक नया मोड़ आता है। जी सी तोङ्ब्रा ने कई राजनैतिक तथा सामाजिक नाटक लिखे।[85] उनका पहला नाटक 'मणि ममौ' है जिसमें अनपढ़ तथा रूढ़ विचारों वाली सास और शिक्षित बहू के बीच के तनाव को प्रस्तुत किया गया है। अगला नाटक 'मैट्रिक पास' है जिसमें इस बात को प्रस्तुत किया गया है कि व्यक्ति की पहचान डिग्री अथवा सर्टिफिकेट से होती है। 'हिङमिन्नबा' में स्नेह का महत्त्व दिखाया गया है। 'अनीथोक्ना चिङ्खाइरे थमोइ' में आज के परिप्रेक्ष्य में छात्र-संघ की वजह से गुरु-शिष्य के सम्बन्ध पर पड़ने वाले प्रभाव देखने को मिलते हैं। इस नाटक में छात्र संघ का निर्माण करने की बात को लेकर काफी गहमा-गहमी हो जाती है। अंत में शिक्षक बलिदान कर देता है तथा अपना पद छोड़ देता है। उसके पश्चात् वह शिक्षक अपनी मातृभूमि (कछार) चला जाता है। तोङ्ब्रा जी ने 'चेङ्नी खुजाइ', 'लूदा मी चङ्बा' 'लैशाबी चिट्ठीखेला', 'खाऊ फाबी' और 'तप्ता' जैसे अन्य नाटक भी लिखे।

इन्होंने अपने नाटकों में सरल तथा बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया। कहीं-कहीं मुहावरे-लोकोक्तियों का प्रयोग करने के साथ हास्य तथा व्यंग्यात्मक शैली भी अपनाई है।

---

85 सनख्या इबोतोम्बी हाओरोक्चम, मणिपुरदा थिएटर अमसुङ ड्रामा, एन. टी. एस. पब्लिकेशन्स, इम्फाल, द्वितीय संस्करण 2000, पृ. 115

मध्यवर्गीय पारिवारिक समस्याओं को लेकर माइबम रामचरण सिंह जी ने कई नाटक लिखे जिनमें पारिवारिक सदस्यों के बीच तनाव व मतभेद देखने को मिलते हैं। उनके नाटकों में 'सरत-पूर्णिमा', 'निङोल', 'लाइबक चाओबी', 'मणि-मपा', 'खुबाक खुनम', 'थादोक्पा', 'शरु मचेत', 'मालेमगी खोलाओ' आदि उल्लेखनीय हैं।

अगले पड़ाव में कुछ युवा लेखक सामने आए जिनके नाटकों की विषयवस्तु नवीन थी तथा उसके पात्र और उनके संवाद में उमंग तथा उत्साह देखने को मिलते हैं। अराम्बम समरेन्द्र इसी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। उन्होंने मुख्यतः अपने नाटकों में मध्यवर्गीय जीवन की विसंगतियों का यथार्थ चित्रण किया है।[86] उनका पहला नाटक 'जज साहेब की इमुङ्' है। इसमें पाश्चात्य एवं मणिपुरी परम्परा का टकराव तथा उससे उत्पन्न होने वाली समस्याओं का वर्णन मिलता है। नाटक में फुलो बाबू तथा उनका ज्येष्ठ पुत्र दामोदर मिलकर निश्चय करते हैं कि पश्चिमी सभ्यता की नकल कर उस ढंग से जीना ही आधुनिक सभ्यता को प्राप्त करना है। 'कारोबार' में दिखाया गया है कि आज जिसे हम सभ्य समाज कहते हैं उसमें जीवन के आदर्श कौन से हैं। प्यार, पवित्रता, ईमानदारी, अखण्डता, सामर्थ्य तथा नीति जैसे शब्द तथा विषय तो पुराने समय की बातें हैं, आज के समाज में इनका कोई सम्बन्ध नहीं। 'दशा' में मणिपुरी मध्यवर्गीय परिवार की समालोचना देखने को मिलती है। इसमें मानव जीवन में

---

86 Datta Amaresh (Ed.), Encyclopaedia of Indian Literature : A-Devo, Sahitya Akademi, 1987, p. 223

व्याप्त भिन्न-भिन्न बुरी स्थितियों का चित्रण मिलता है। 'तीर्थ-यात्रा' में नई पीढ़ी तथा पुरानी पीढ़ी की सोच के अन्तराल को दिखाया गया है।

अथोक्पम तोमचौ ने भ्रष्टाचार को विषयवस्तु के रूप में लेकर 'प्रमोशन' नामक नाटक लिखा। 'जाली मी' में दिखाया गया है कि एक सफल राजनेता जिसने जनता का जिम्मा लिया था वह शीघ्र ही अपने कर्त्तव्यों से मुँह मोड़ लेता है। 'नुङ्सीबा थीबा' में आज की वर्तमान स्थिति में शादी के नाम पर किए जाने वाले फिजूल खर्च को दिखाया गया है। 'सम्बल' में गलत सामाजिक दृष्टि का उल्लेख मिलता है। पारिवारिक दशा के चलते ऊँच नीच तथा भेद-भाव की भावना देखने को मिलती है। 'बस-स्टॉप' प्रतीकात्मक नाटक है। इसमें स्त्री-पुरुष सम्बन्धों का तनाव दर्शाया गया है और यह बताया गया है कि शादी नाम मात्र का बन्धन रह गया है क्योंकि हर कोई अपनी आवश्यकता की पूर्ति चाहता है।

पुखम्बम शामू ने ज्यादातर समस्या प्रधान नाटक लिखे। 'जगोई शाबी' इनका पहला नाटक है। इसमें श्यामकुमारी नाम की एक नर्तकी है जो ब्रजमोहन को पति के रूप में चुनती है। ब्रजमोहन एक अध्यापक है तथा पहले से ही विवाहित है। वह घर छोड़कर श्यामकुमारी के हाथों पड़ जाता है। 'अतोनबी' इनका अगला नाटक है जिसमें इबेचौबा नाम के व्यक्ति की शादी सकहेनबी से हो जाती है। कुछ समय बाद इबेचौबा नुङ्शीमचा नाम की दूसरी स्त्री को भगा लाता है। सकहेनबी तलाक चाहती है परन्तु उसकी सास उसे समझाती है। दूसरी

तरफ ससुर जी नुङ्शीमचा के पक्ष में रहते हैं। इस वजह से परिवार बिखर कर रह जाता है।

हैसनाम कन्हाइलाल अच्छे नाटककार के साथ अच्छे निर्देशक भी हैं। 'तरेत लैमा' में एक ब्राह्मण परिवार का वास्तविक दृश्य दिखाया गया है जिसमें परिवार का मुखिया एक वृद्ध धार्मिक व्यक्ति है तथा धार्मिक अनुष्ठानों से अपना घर चलाता है। उसे अपने बेटों के कारण कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। उसका सबसे बड़ा बेटा एक शराबी है, मंझला बेटा जुआरी है तथा तीसरा बेटा अतृप्त कामनाओं से असंतुष्ट ऐय्याश किस्म का व्यक्ति है। निर्धनता तथा दिल को ठेस पहुँचने की वजह से उस वृद्ध व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है। यह घटना तत्कालीन मणिपुरी समाज के यथार्थ को भी चित्रित करती है। 'तम्नलाई' में वर्तमान समाज की समस्या गरीबी को दर्शाया गया है तथा गुंडावाद भी देखने को मिलता है। समग्र रूप से व्यक्ति परिस्थितियों का दास है। उन्होंने 'इखौलाङ्बी', 'पेबेत', 'कबुइ कैओइबा' 'नुपी थीबा' आदि नाटक भी लिखे।

रतन थियाम सक्रिय रंगमंच से जुड़े लेखक माने जाते हैं। उनकी रंगमंचीय सक्रियता अन्तर्राष्ट्रीय स्तर में जा पहुँची है। उनका अपना अलग 'कोरस रेपर्टरी' नाम की नाटक मंडली है।

श्रीबीरेन एब्सर्ड नाटककार माने जाते हैं। उन्होंने 'खोङ्चत', 'हल्लकपा' और 'अनी' नामक नाटक लिखे।[87] इनमें से 'खोङ्चत' तथा 'हल्लकपा' असंगत नाटक के अन्तर्गत आते हैं। 'खोङ्चत' में तीन पात्र हैं – दो पुरुष जिनमें से एक गुस्सैल और दूसरा दरिद्र है तथा एक स्त्री। ये तीनों ही आधुनिक युग की भयानक स्थिति से घबरा जाते हैं। 'हल्लकपा' में यह दिखाया गया है कि किस तरह से आज के मशीन युग में मनुष्य अपनी पहचान खो बैठा है।

मणिपुरी नाट्य साहित्य में महिला लेखिकाएँ बहुत ही दुर्लभ हैं परन्तु एक व्यक्तित्व है जिसने इस क्षेत्र में अपना योगदान दिया है। एम.के. विनोदिनी जी ने एक नाट्य रचना 'अशङ्बा नोङ्जाबी' को प्रस्तुत किया। उन्होंने अपने समकालीन नाटककारों की तरह समाज के भँवर में न फँसकर अपने लिए प्रणय–सम्बन्धी कामना तथा घटनाओं से प्रशस्त एक निर्जन पथ चुना।

इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय में हमने हिन्दी नाटक और रंगमंच के साथ–साथ मणिपुरी नाटक और रंगमंच के क्रमिक विकास की चर्चा की। हिन्दी और मणिपुरी के नाटक और रंगमंच के कालविभाजन और कालगत विशेषताओं को देखकर यह कहा जा सकता है कि पारसी थिएटर का दोनों पर बराबर प्रभाव पड़ा। स्वतंत्रता पूर्व और स्वातंत्र्योत्तर युग में जो अन्तर देखने को मिलता है उस पर देश–काल, समाज और विभिन्न विचारधाराओं का प्रभाव रहा है। समय के साथ दोनों ही तरफ आधुनिकता का प्रभाव देखने को मिलता है।

---

87 सिंह जवाहर, मणिपुर : साहित्य और संस्कृति, नीलकमल प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 31

अनूदित नाटकों का कथ्य

प्रस्तुत अध्याय में मणिपुरी रंगमंच के विकास में हिन्दी से अनूदित नाटकों की भूमिका पर प्रकाश डाला गया है। इसके अध्ययन के लिए ऐसे छः हिन्दी नाटकों का चयन किया गया है जिनका मणिपुरी भाषा में मंचन हुआ है। इन नाटकों में 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक', 'अन्धों का हाथी', 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस', 'अंधायुग' और 'उत्तरप्रियदर्शी' शामिल है। इनका मणिपुरी रंगमंच पर क्या प्रभाव रहा यह जानने से पहले इन नाटकों के कथ्य को जान लेना अति आवश्यक है। अतः इस भाग में सबसे पहले इन नाटकों का कथ्य प्रस्तुत किया जा रहा है।

1. सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक

प्रस्तुत नाटक लैंगिकता, रिश्ते और लैंगिक समानता पर आधारित है। नाटक में एक नपुंसक राजा और उसकी रानी की कहानी है। नाटक तीन अंकों में विभाजित है। नाटक के मुख्य पात्र हैं - महतरिका, शीलवती, ओक्काक और प्रतोष। व्यक्तिगत और सामाजिक मूल्यों के बीच का संघर्ष इस नाटक का मुख्य मुद्दा है। नाटक का पहला अंक ओक्काक और महतरिका के बीच चर्चा पर केन्द्रित है। नियोग प्रथा के अनुसार शीलवती को किसी भी पुरुष का उपपति के रूप में चयन करना होता है। राजा की निस्सहाय स्थिति और अक्षमता, राजा और रानी दोनों में ही परिलक्षित होती है। लाक्षणिक रूप से ओक्काक और शीलवती जितने अपूर्ण हैं महतरिका और प्रतोष उतने ही पूर्ण और सक्षम हैं। एक तरफ राजा ओक्काक अपनी नपुंसकता और अपूर्णता के कारण कुंठित होता है तथा दूसरी तरफ शीलवती नारीत्व का अहसास हो जाने के कारण स्वयं को पूर्ण महसूस करने लगती है। एक तरफ जहाँ शीलवती का आत्मविश्वास बढ़ जाता है वहीं दूसरी तरफ ओक्काक स्वयं को पहले से ज़्यादा अपूर्ण महसूस करता है। नाटक का अंत स्वयंवर की एक और घोषणा के साथ होता है।

जैसे ही कहानी सामने आती है, बदनसीब राजा ओक्काक आज के मनुष्य की उन सभी असमर्थता का प्रतीक बन जाता है जिसका वह रोज़मर्रा की जिन्दगी में सामना कर रहा है। राजा पूरी रात जागरण में बिता देता है और उस वक्त उसका साथ महतरिका देती है। तीन लोगों की जिन्दगी में मची उथल-पुथल को

शांत कर सकने वाली महतरिका जैसा आदर्श किरदार आज हर कोई जीवन में जीना चाहता है।

नाटक का कथानक काफी सरल परन्तु प्रबल है। हालांकि यह नाटक आज से कई वर्षों पहले लिखा गया परन्तु यह आज भी उतना ही प्रासंगिक है। नाटक की महत्त्वपूर्ण घटना वह एक रात है जो कि प्यार, जुनून और यंत्रणा से बुनी हुई है। काम संबंधों के बीच नपुंसकता एक अभिशाप है और ऐसे अभिशप्त जीवन की नियति को आधार बनाकर इस नाटक की रचना की गई है। दूसरी तरफ नाटक में एक व्यवस्थापिका सभा भी है जहाँ महामात्य, राजपुरोहित और महाबलाधिकृत जैसे लोग मिलकर किसी के भाग्य की रेखा खींचते हैं। क्या इन पर किसी का नियंत्रण नहीं, क्या वे सबका नसीब सुनिश्चित करेंगे?

नाटककार ने प्रतीकात्मक रूप में सूर्य की अंतिम किरण और पहली किरण का प्रयोग किया है। नाटक में एक नपुंसक पुरुष और पूर्ण नारी के मानसिक द्वन्द्व को भली-भाँति चित्रित किया गया है। इस नाटक के जरिए नाटककार कुछेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों को सामने रखना चाहते हैं, जैसे - स्त्री को कभी भी अपने शारीरिक सुख का अहसास नहीं होना चाहिए, उसे स्त्री-पुरुष के शारीरिक संबंध की बात किसी से नहीं करनी चाहिए तथा यौन क्रिया में आनंद की अनुभूति होने पर भी वह इस प्रकार व्यवहार करे जैसे उसे काफी पीड़ा सहनी पड़ी हो और वह उसके जीवन का सबसे खराब पल था।

2. अंधों का हाथी

'अंधों का हाथी' एक पुरानी कहावत पर आधारित शरद जोशी का व्यंग्यात्मक नाटक है जिसमें पाँच अंधे लोग अपने अनुसार हाथी की व्याख्या करते हैं। इस कहावत को आधार बनाकर नाटककार ने भारत की सामाजिक-राजनीतिक परिदृश्य को हमारे सामने प्रस्तुत किया है। नाटक का सूत्रधार मंच पर मौजूद पाँच अंधे लोगों के सामने हाथी को प्रस्तुत करता है तथा उनसे कहता है कि वे अपने अनुसार हाथी की व्याख्या करें और उसे संभाले। नाटककार ने काफी आनंदमय दृश्य के माध्यम से यह दिखाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार ये अंधे लोग हाथी की व्याख्या करते हैं और लोगों में तनाव की स्थिति आ जाती है, साथ ही किस प्रकार यह क्रिया हमारे देश की नीतियों को दर्शाते हैं। कहानी बड़े ही आकर्षक और व्यंग्यात्मक रूप से अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचती है तथा दर्शक को अपने विश्वास और विचारधाराओं पर पुनर्विचार करने के लिए मजबूर करती है।

नाटक के केन्द्र में पाँच अंधे और एक हाथी है। सूत्रधार मंच पर हाथी ले आता है तथा इन पाँच अंधों से अनुरोध करता है कि वे इसे पहचाने, स्वीकारें तथा अपने शब्दों में इसका स्पष्टीकरण करें। वह उनसे कहता है कि इससे सम्भावित खतरों की भी जानकारी दें। इस प्रक्रिया में पाँचों अंधे हाथी के शरीर के अलग-अलग हिस्सों को पकड़ कर बैठ जाते हैं। कोई हाथी की सूँड पकड़ लेता है तो कोई हाथी के कान, पूँछ, पैर या पेट को पकड़ता है। यहाँ से इनमें

आपसी मतभेद शुरु होते हैं। चूंकि सबने हाथी के शरीर का अलग-अलग हिस्सा पकड़ रखा होता है अत: हाथी के सन्दर्भ में किसी के भी विचार एक-से नहीं होते। यह मतभेद राजनीतिक विचारधाराओं और धार्मिक मान्यताओं के बीच अनबन का प्रतीक है। यहाँ पर अंधे लोग किसी भी राष्ट्रीय समस्या की नींव रखते हैं तथा उसका संचालन करते हैं। काफी बौद्धिकता के साथ हमारे देश की तस्वीर को नाटकीय रूप में प्रस्तुत किया गया है। नाटक में यह दिखाया गया है कि शासन को बिल्कुल मंजूर नहीं कि कोई उससे सवाल करे। जो ऐसा करता है उसका वही अंजाम होता है जो सूत्रधार का हुआ।

ये पाँच अंधे जो कि अपने ज्ञानेन्द्रियों के अनुसार हाथी की व्याख्या करते है वास्तव में ये हमारे देश के मंत्री-नेताओं का प्रतीक हैं जो अपने ही मतदाताओं की समस्या को अनदेखा-अनसुना कर देते हैं। नाटक में गठबंधन राजनीति की बारीकियों को भी दर्शाया गया है। हालांकि यह नाटक काफी वर्षों पहले लिखा गया है परन्तु इसकी अवधारणा समकालीन है। यह हमारे देश की राजनीतिक और सामाजिक परिदृश्य का मज़ाकिया शैली में प्रस्तुतीकरण है। प्रस्तुत नाटक हमारे देश के मंत्री-नेताओं पर करारा व्यंग्य है कि वे किस प्रकार कार्य सम्भालते हैं। नाटक में यह दिखाया गया है कि बेईमान नेताओं के संचालन में देश कितनी बुरी तरह प्रभावित होती है। नाटक का प्रत्येक किरदार प्रतीकात्मक रूप से समाज से संबंधित है। सूत्रधार देश की बेचैन जनता का प्रतीक है। अंधे हमारे देश के नेता, उनके विकृत शासन तथा किसी भी मुद्दे को दबाने या टालने वाले कुटिल रवैये

का प्रतीक है जो कि हमारे देश के वर्तमान और भविष्य को प्रभावित करता है। हाथी अनसुलझे तथा अनिर्णीत मुद्दों का प्रतीक है, जो राष्ट्र में उत्पात मचाता है तथा उसकी कार्यप्रणाली को गतिहीन बनाता है। मतभेद विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं, धार्मिक मान्यताओं और बेकार के सांस्कृतिक भिन्नता के बीच की लड़ाई का प्रतीक है।

3. आषाढ़ का एक दिन

प्रस्तुत नाटक में मोहन राकेश ने कालिदास को एक प्रतीक के रूप में चित्रित किया है। ऐतिहासिक कथानक के माध्यम से आधुनिक मनुष्य की विडम्बना को प्रस्तुत किया गया है। ऐतिहासिक पात्रों के साथ इस नाटक में काल्पनिक पात्र भी हैं। इस तरह से मोहन राकेश ने कल्पना और इतिहास को मिलाकर एक शाश्वत सत्य को सामने रखा है।

प्रस्तुत नाटक जीवन की ऊहापोह को भलीभाँति व्यक्त करता है। सम्पूर्ण नाटक में सर्जनात्मकता और जीवन की वास्तविकता का सामना करने में असमर्थता का भाव है। नि:सन्देह यह समस्या वर्तमान की स्थिति को बिल्कुल सटीक रूप में व्यक्त करती है। नाटककार ने ऐतिहासिक घटना को आधार बनाकर समकालीन समस्या को प्रस्तुत किया है। देखा जाए तो नाटक का आधार 'विकल्प' है। यहाँ विकल्प से तात्पर्य है जीवन में लिए जाने वाले निर्णय। मल्लिका यह निर्णय लेती है कि कालिदास उज्जैन जाकर राजकवि का पद स्वीकार कर ले। नाटक का पहला अंक समाप्त होने पर हम देखते हैं कि

कालिदास भी उज्जैन जाने का निर्णय ले लेता है। दूसरे अंक में कालिदास यह निर्णय लेता है कि उसे मल्लिका से नहीं मिलना चाहिए। तीसरे अंक में हम देखते हैं कि मल्लिका विलोम से विवाह करने का निर्णय ले लेती है और कालिदास भी राजमहल का सुख त्याग कर अपने गाँव वापस लौट आता है। नाटक के अंत में कालिदास मल्लिका से दूर चला जाता है। जीवन की सबसे बड़ी विडम्बना यही है कि मनुष्य न चाहकर भी उस विकल्प का चयन करता है जिसके लिए उस पर ज़ोर दिया जाता है। यह नाटक मनुष्य के अंतर्मन के वास्तविकता की अभिव्यक्ति है।

नाटक का नायक कालिदास भावनाओं और आंतरिक द्वन्द्व का मूर्त रूप है। वह अपनी इच्छा और अभिलाषा के प्रतिकूल जीता है। वह उज्जैन नहीं जाना चाहता परन्तु चला जाता है, वह प्रियंगुमंजरी से विवाह नहीं करना चाहता परन्तु कर लेता है, वह लौटकर वापस नहीं जाना चाहता परन्तु वापस लौट आता है। इससे उसकी किंकर्त्तव्यविमूढ़ता का पता चलता है। इतनी प्रतिष्ठा और विलासिता के बावजूद वह उदास और असंतुष्ट रहता है। उसे हमेशा इसी बात का दु:ख रहता कि उससे क्या पीछे छूट गया है। इतनी सफलता और आराम हासिल करने पर भी कालिदास जीवन में हारा हुआ सा प्रतीत होता है जबकि मल्लिका अपनी इच्छा से सब कुछ त्याग देने पर भी जिन्दगी की जंग में जीत जाती है।

'आषाढ़ का एक दिन' ऐसा नाटक है जहाँ चिरकालीन और आधुनिक विचारधारा बेहतरीन रूप से एक-दूसरे में मिल गए हैं। यह आधुनिक जीवन की

अदृढ़ता तथा अस्थिरता को व्यक्त करने के साथ-साथ आधुनिक मानव के आंतरिक संघर्ष को भी अभिव्यक्त करता है। कालिदास के माध्यम से मोहन राकेश ने वर्तमान समय में हम सबके यांत्रिक जीवन की ओर फोकस किया है। वर्तमान समय में व्यक्ति सब कुछ हासिल कर लेने के बावजूद भी खुद को दु:खी, चिंतित और दयनीय स्थिति में पाता है। वह एक ऐसी अंधी दौड़ में शामिल है जिसके चलते उसके जीवन में सुकून नहीं है। इतने सारे रिश्तेदारों और शुभचिंतकों से घिरे होने पर भी अकेला-सा महसूस करते हैं। परिणामस्वरूप जीवन में कठिनाई और व्याकुलता भर गई है।

इसके अलावा नाटक में दो पीढ़ियों के आपसी टकराव को भी दिखाया गया है। अम्बिका और मल्लिका के मत, विचार और मान्यताओं में बहस और विरोध वर्तमान की उस समस्या को दर्शाता है जिसे हम आज के समय में देख सकते हैं। इसके अलावा इस नाटक में वर्तमान समय की एक और समस्या को दिखाया गया है जहाँ आर्थिक व सामाजिक सीमाओं, जातिभेद और आर्थिक असमानता के चलते कई लोग आपस में विवाह नहीं कर पाते। परिणामस्वरूप वे अधिक भौतिकवादी और ढीठ हो जाते हैं जो कि अवसाद और कुंठा का कारण बन जाता है। मल्लिका न चाहते हुए भी विलोम से विवाह कर लेती है और एक बच्ची को जन्म देती है जो कि उसकी नाकामयाबी, निराशा और विफलता का परिणाम है। मल्लिका की ही तरह आज कई महिलाएँ अनमेल विवाह कर जीवन

भर दुःख भोगती हैं। इस प्रकार नाटक का कथानक ऐतिहासिक होने के बावजूद भी वर्तमान समय की समस्याओं को हमारे सामने उजागर करता है।

4. लहारों के राजहंस

'लहरों के राजहंस' मोहन राकेश की बहुचर्चित व कालजयी कृति है। मोहन राकेश ने ऐतिहासिक कथानक को आधार बनाकर आधुनिक समय के मानव की निर्णय न ले पाने की स्थिति को दर्शाया है। प्रस्तुत नाटक का नायक नंद इस द्वन्द्व में फँसा हुआ है कि वह सांसारिक सुख और आध्यात्मिक शांति के बीच किसका चुनाव करे। वह यह निर्णय लेने में असमर्थ है कि वह नायिका के रूप-सौन्दर्य से बंधा रहे या फिर आध्यात्मिक शांति के लिए बौद्ध धर्म को स्वीकार कर ले।

मनुष्य हमेशा अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति से घिरा हुआ होता है। प्रस्तुत नाटक का नायक नंद आधुनिक मानव का प्रतीक है जो कि अपनी पत्नी के रूप सौन्दर्य पर आसक्त है। उसकी पत्नी को भी अपने रूप सौन्दर्य पर इतना गर्व है कि उसे ऐसा लगता है कि गौतम बुद्ध की शरण में जाने पर भी नंद वापस लौटकर आएगा। बौद्ध धर्म की दीक्षा ले लेने पर भी नंद के मस्तिष्क से उसकी पत्नी का खयाल दूर नहीं हो पाता। वह भिक्षा लेने के बहाने अपनी पत्नी से मिलने आता है परन्तु उसकी पत्नी उसे स्वीकार नहीं करती क्योंकि अब वह पहले की तरह नहीं दिखता। दूसरे ही क्षण नंद अपनी पत्नी से कहता है कि उसे भी अब कोई दिलचस्पी नहीं है। आगे वह यह बताता है कि दीक्षा लेते समय उसे अपनी पत्नी

का खयाल आता था और अब जब वह लौट आया है तो उसे वैराग्य में दिलचस्पी हो रही है।

देखा जाए तो नंद जीवन के ऐसे चौराहे पर खड़ा है जहाँ वह प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच छटपटा रहा है। आज के मनुष्य की भी कुछ ऐसी ही स्थिति है जो कि लौकिक-अलौकिक तथा दैहिक-आत्मिक मूल्यात्मक संघर्ष में उलझ कर रह गया है। मनुष्य चाहता कुछ और है तथा करता कुछ और ही है। उसका व्यक्तित्व टुकड़ों में बँटा होने के कारण वह हर वक्त द्वन्द्व की स्थिति का सामना करता है। यदि वर्तमान स्थिति के सन्दर्भ में देखा जाए तो आज का मनुष्य भी निर्णय लेने में असमर्थ, किंकर्त्तव्यविमूढ़, आकर्षण-विकर्षण, विभाजित व्यक्तित्व युक्त सदैव द्वन्द्व की स्थिति का सामना करता है। स्वयं नंद के शब्दों में अस्मिता संघर्ष की पीड़ा व्यक्त होती है, यथा - 'मैं चौराहे पर खड़ा नंगा व्यक्ति हूँ जिसे सभी दिशाएँ लील लेना चाहती हैं, और अपने को ढँकने के लिए जिसके पास आवरण नहीं है। जिस किसी दिशा की ओर पैर बढ़ाता हूँ लगता है वह दिशा स्वयं अपने ध्रुव पर डगमगा रही है, और मैं पीछे हट जाता हूँ। उनके (बुद्ध) पास था तो मन यहाँ के लिए व्याकुल था। अब तुम्हारे (सुन्दरी) सामने हूँ, तो मन कहीं ओर के लिए व्याकुल है। क्योंकि यहाँ हो या वहाँ, सब जगह मैं अपने को एक-सा अधूरा अनुभव करता हूँ। क्योंकि तुम हो या वे, कोई भी मेरी वास्तविकता को स्वीकार नहीं कर सकता। क्योंकि इस रूप में हो या उस रूप में, अब किसी भी रूप में मैं अपने आपको झुठलाकर नहीं जी सकता। क्योंकि मैं

यह भी हूँ और वह भी .... इनमें से कोई एक नहीं, जैसा कि तुम सब अलग-अलग विश्वास करना चाहते हो कि मैं हूँ ....।' इन पंक्तियों में नंद के माध्यम से आधुनिक मानव के विभाजित व्यक्तित्व, विवशता और पीड़ा का पता चलता है। साथ ही यह भी पता चलता है कि परिस्थितियों के चक्रव्यूह में फँसकर उसकी स्थिति बिन पैंदे के लोटे जैसी हो गई है।

5. अंधा युग

धर्मवीर भारती द्वारा रचित 'अंधायुग' का आधार महाभारत का युद्ध है। कथा की शुरुआत महाभारत के अट्ठारहवें दिन की संध्या से होती है तथा इसका अंत कुरुक्षेत्र में कृष्ण की मृत्यु के साथ होता है। नाटक के केन्द्र में युद्ध के औचित्य को चुनौती देते हुए नाटककार इस तर्क को रखना चाहता है कि युद्ध से कभी किसी का भला नहीं होता। युद्ध में जीत किसी की भी हो परन्तु हानि का सामना दोनों पक्षों को करना ही पड़ता है।

नाटक में महाभारत के युद्ध को आधार बनाया गया है जहाँ एक ओर पाण्डव पक्ष तथा दूसरी ओर कौरव पक्ष के लोग हैं। परन्तु खास बात यह है कि नाटककार ने इन पात्रों को सामान्य मनुष्य के रूप में ही चित्रित किया है। नाटक के प्रत्येक पात्र द्वारा नाटककार ने मनुष्य की भावनाओं का सजीव चित्रण किया है। जब युद्ध होता है तो उसमें कुछ भी सही या गलत नहीं होता। दोनों पक्षों के लोग कुछ भी कर केवल जीतना चाहते हैं। धृतराष्ट्र और गांधारी यह जानते हुए भी कि उनके बेटे धर्म के विरुद्ध लड़ रहे हैं, कौरव पक्ष की जीत की राह देख

रहे होते हैं। हस्तिनापुर जो कभी काफी खूबसूरत हुआ करता था, आग में जल रहा है और चारों तरफ निराशा का वातावरण है। अपने पिता गुरु द्रोण की हत्या से अश्वत्थामा बदले की आग में जल रहा होता है। गुस्से में तमतमाया हुआ अश्वत्थामा मानसिक रूप से इतना परेशान और बेचैन होता है कि सही-गलत का निर्णय नहीं ले पाता और ब्रह्मास्त्र छोड़ने का निर्णय ले लेता है। इस ब्रह्मास्त्र से होने वाले नुकसान से अवगत होने पर भी वह अपना निर्णय नहीं बदलता। वहीं दूसरी तरफ युयुत्सु है जो कि कौरव पक्ष का साथ इसलिए नहीं देता क्योंकि वह धर्म के विरुद्ध नहीं लड़ना चाहता। परिणामस्वरूप उसे केवल धिक्कार ही मिलता है। वह ग्लानि भाव से इतना भर जाता है कि अंततः आत्महत्या कर लेता है।

चूंकि यह नाटक सन् 1947 के बाद का है अतः इसमें विभाजन से हाने वाली पीड़ा भी देखने को मिलती है। प्रकारान्तर से यह बताया गया है कि किस प्रकार केवल इन्सानों का जीवन ही नहीं बल्कि नैतिक मूल्य भी नष्ट हुए। प्रस्तुत नाटक में महाभारत के पात्रों द्वारा आधुनिक मानव की त्रासदी की कहानी को प्रतीकात्मक रूप से व्यक्त किया गया है। यह तो हम सभी जानते हैं कि महाभारत का युद्ध सत्ता के चलते हुआ था। धर्मवीर भारती ने 'अंधायुग' के माध्यम से राजनीतिक द्वन्द्व को प्रस्तुत किया है। कोई भी अपनी गलती स्वीकारना नहीं चाहता जो कि मनुष्य की सच देखने की अयोग्यता को सिद्ध करता है। धर्म के आधार पर जो विभाजन हुआ उसके चलते जितनी तबाही मची उतनी पहले कभी नहीं हुई थी। इसी कारण नाटक में अर्ध-सत्य, निष्क्रियता, अंधापन, निर्दयता, विकृत, आत्महत्या जैसे शब्दों का मार्मिक वर्णन मिलता है। धर्म के

आधार पर जो विभाजन और बँटवारा हुआ उससे कोई राहत नहीं मिली बल्कि तबाही का एक कारण बनकर रह गई।

6. उत्तरप्रियदर्शी

'उत्तरप्रियदर्शी' अज्ञेय द्वारा रचित एक गीतिनाट्य है। प्रस्तुत नाटक का विषय सम्राट अशोक के कलिंग विजय के बाद बौद्ध धर्म को अपनाने पर आधारित है। आज तक किसी भी इतिहासकार ने सम्राट अशोक के इस निर्णय के कारण पर न तो कभी सोचा और न ही कभी चर्चा की। शायद किसी प्रबल आवेग के चलते उनके दृष्टिकोण में आकस्मिक परिवर्तन आया हो। अज्ञेय ने इस ऐतिहासिक घटना से जुड़े मनोवैज्ञानिक तर्क को खोजने का प्रयास किया है जो कि सम्राट अशोक के जीवन का एक नया मोड़ था।

प्रस्तुत नाटक जीवन और मृत्यु के कगार पर आधारित है। जीवन का शेष भाग अतीतावलोकन के माध्यम से जिया जाता है तथा पीड़ित व्यक्ति को वेदना से मुक्ति मिलती है। अज्ञेय ने भिक्षु, भूत, गायकों तथा संगीत की उपस्थिति के उपकरणों का भली-भाँति प्रयोग किया है। जब सम्राट अशोक यह वचन देते हैं कि नरक में प्रवेश करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को यम द्वारा यंत्रणा दी जाएगी, चाहे कोई सम्राट ही क्यों न हो उसे भी नहीं छोड़ा जाएगा, तब उन्हें भी नहीं पता था कि किसी दिन वे ही .....

'उत्तरप्रियदर्शी' सम्राट अशोक (प्रियदर्शी) तथा कलिंग युद्ध के पश्चात् उनके बौद्ध धर्म के प्रयोग के इर्द-गिर्द घूमती है। युद्ध के भूतों से छुटकारा पाने

के प्रयास में अशोक एक बुद्धिमान भिक्षु से यह सीखते हैं कि अच्छा और बुरा दोनों ही हममें वास करता है तथा इस द्वन्द्व से ऊपर उठना चाहिए।

नाटक का संदेश यह है कि यदि हम परम सौम्यता को प्राप्त करना चाहते हैं तो प्रियदर्शी के समान अपनी बुरी उत्तेजनाओं को स्वीकार कर उन्हें बाहरी दुश्मनों के रूप में बढ़ावा देने के बजाय उन्हें अपने अंदर ही सीमित करना होगा। किसी भी शासक को घरेलू तथा विदेशी निरंकुशता के बीच मुक्ति पर आधारित न्याय के प्रकार तथा सहानुभूति को चुनना चाहिए।

नाटकों में मणिपुरी समाज एवं संस्कृति की झलक

जैसा कि इस बात से हम सभी भली-भाँति परिचित हैं कि 'उत्तरप्रियदर्शी' सम्राट अशोक द्वारा कलिंग युद्ध के विजय के पश्चात् बौद्ध धर्म को अपनाने की कथा है। रतन थियाम की इस प्रस्तुति की शुरुआत में एक दृश्य है जहाँ सम्राट अशोक का बचपन दिखाया गया है। आप दुनिया के किसी भी कोने में चले जाएँ तो आप यह पाएँगे कि दुनिया का हर बालक मिट्टी से खेलना पसंद करता है। उसे मिट्टी से खेलते वक्त परमानंद की अनुभूति होती है। प्रस्तुत नाटक में नन्हें अशोक को मिट्टी से खेलते हुए दिखाया गया है। इस दृश्य के दौरान मणिपुरी संस्कृति के अभिन्न अंग 'लाई हराओबा' की धुन बज रही होती है।[88] 'लाई हराओबा' की इस धुन में आप मणिपुरी वाद्य यंत्रों की ध्वनियाँ स्पष्ट रूप से सुन सकते हैं जो काफी मधुर है।

चूंकि यह नाटक बौद्ध धर्म की महानता को दिखाता है अत: इसमें बौद्ध भिक्षुओं को मंच पर प्रस्तुत किया जाना जायज़-सी बात है। परन्तु मंच पर इन बौद्ध भिक्षुओं द्वारा 'पुङ चोलोम' नामक वाद्य यंत्र प्रस्तुति के हुनर की झलक देखने को मिलती है।[89] पुङ चोलोम की क्रिया में मंडली के प्रत्येक व्यक्ति के पास अपना मृदंग होता है जिसे बजाते हुए वे कभी नृत्य करते हैं और कभी मृदंग बजाते हुए गोल-गोल घूमते हुए उछल कर कूदते हैं और इस प्रकार एक

---

88 'उत्तरप्रियदर्शी' की डीवीडी

89 वही

परिक्रमा करते हैं। नाटक के बौद्ध भिक्षुओं को भी इसी प्रकार परिक्रमा करते हुए देखा जा सकता है।

नाटक में एक दृश्य ऐसा भी है जहाँ नरक के अधिपति घोर को अत्यधिक प्रसन्न और आनंदित होता दिखाया गया है।[90] इस दृश्य के दौरान जिस प्रकार की ध्वनि सुनाई देती है आम तौर पर वह मणिपुर के जनजातीय समुदाय द्वारा सांस्कृतिक कार्यक्रमों में सुनी जा सकती है। नाटक के एक दृश्य में युद्ध के कारण विधवा हुई स्त्रियों की क्रन्दन ध्वनि सुनाई देती है।[91] आम तौर पर इस प्रकार की ध्वनि मणिपुर में किसी व्यक्ति के 'श्राद्ध' के अवसर पर महसूस की जा सकती है। इसके अलावा अधिकतम दृश्यों में यदि गौर किया जाए तो सामान्य रूप से चलने की बजाय पात्रों की अलग ही अंदाज में चाल देखी जा सकती है।[92] वास्तव में इस पर मणिपुरी नृत्य का प्रभाव है। मणिपुरी नृत्यों में शरीर के प्रत्येक अंग को बड़े ही कलात्मक ढंग से हिलाया डुलाया जाता है जिससे कि एक कोमलता का भाव सामने आ सके। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि कुछेक दृश्यों में पात्रों की चाल और गति में मणिपुरी नृत्य शैली का प्रभाव देखा जा सकता है।

---

[90] 'उत्तरप्रियदर्शी' की डीवीडी

[91] वही

[92] वही

पूर्ण रूप से बौद्ध धर्म पर आधारित नाटक होने के कारण येन केन प्रकारेण मणिपुरी समाज और संस्कृति का दृश्य दिखाना संभव नहीं था। परन्तु जहाँ तक हो सके रतन थियाम ने नाटक में किसी-न-किसी बहाने मणिपुरी संस्कृति के कुछेक अंग को मंच पर प्रस्तुत किया।

अनुवाद के बाद शिल्प और मंचन

अज्ञेय के गीतिनाट्य 'उत्तरप्रियदर्शी' के सन्दर्भ में यह कहा जाता है कि इसका सफल मंचन अब तक नहीं हो पाया। इसका सबसे बड़ा कारण इस गीतिनाट्य के कुछेक ऐसे दृश्य हैं जिन्हें दर्शकों के सामने प्रस्तुत करना टेढ़ी खीर है। परन्तु यदि हम मणिपुरी रंगमंच पर इसकी प्रस्तुति की बात करें तो यह काफी सफल सिद्ध हुआ है। बल्कि इसके मणिपुरी मंचन को देखकर हम यह सोचने पर मजबूर हो जाते हैं कि उत्तरप्रियदर्शी का भी सफल मंचन हो सकता है।

नाटक की संरचना का आधार जापानी नोह ड्रामा से लिया गया है तथा भारतीय पाठक एवं दर्शकों को प्रस्तुत करने के लिए उपयुक्त तरीके से निरूपित किया गया है। आम तौर पर नोह ड्रामा में किसी ऐसे योद्धा, राजा या स्त्री को प्रस्तुत किया जाता है जिसे या तो प्यार में धोखा मिला हो या पिछले जीवन में कोई गलती की हो जिसकी वेदना उसे अपने जीवन के बाद भी झेलनी पड़ती है। परन्तु यहाँ वेदना किसी व्यक्ति के दु:ख, इच्छाओं की पूर्ति या उसके द्वारा की गई गलतियों से नहीं है। बल्कि सम्राट अशोक के अत्यधिक अहंकार का परणिाम है।

नाटक में एक दृश्य है जब सम्राट अशोक कलिंग युद्ध से जीतकर वापस आते हैं। इस दृश्य में यह दिखाया गया है कि सम्राट अशोक हाथी पर सवार होकर आए हैं।[93] मंच पर हाथी को प्रस्तुत करना तो बिल्कुल असम्भव है और शायद यही कारण है कि इसके हिन्दी मंचन को लोगों द्वारा अधिक सराहना नहीं

[93] 'उत्तरप्रियदर्शी' की डीवीडी

मिली। परन्तु रतन थियाम ने अपने कौशल का प्रयोग कर इस दुर्लभ दुश्य को हम सबके सामने लाकर रख दिया।

नाटक में एक और दृश्य है जहाँ नरक को मंच पर प्रस्तुत किया गया है। यों तो आप या हम में से किसी ने भी नरक कभी नहीं देखा है परन्तु जैसा कि सब जानते हैं नरक एक ऐसा स्थान है जहाँ भाँति-भाँति की यातनाएँ दी जाती हैं। इस दृश्य में नरक की अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए रतन थियाम ने ऐसा दृश्य प्रस्तुत किया है जिसे देखकर यह एहसास होने लगता है कि नरक ऐसा ही होता होगा। नरक के दृश्य में गरमागरम तेल खौलती कढ़ाई दिखाई गई है जिसमें लोगों को तला जा रहा है, एक बिजली की कुर्सी है जिसमें इंसान को बैठाया जाता है और फिर बिजली के ज़ोरदार झटके से मार दिया जाता है।[94] इसी प्रकार किसी को फंदे से लटकाया जाता है तो किसी के शरीर का कचुम्मड़ निकाल दिया जाता है।[95] भला इससे ज़्यादा बुरा दृश्य और क्या हो सकता है? इस नरक की अवधारणा को दर्शक के सामने प्रस्तुत करने के लिए रतन थियाम ने नरक संबंधी भारतीय तथा पाश्चात्य अवधारणा का मिश्रित रूप हमारे सामने रखा है। केवल इतना ही नहीं बल्कि इन्होंने अपने अनुसार इसे और भी ज़्यादा भयानक रूप में प्रस्तुत करने के लक्ष्य से अपनी प्रतिभा का प्रयोग किया है।

---

[94] 'उत्तरप्रियदर्शी' की डीवीडी

[95] वही

नाटक में एक और दिलचस्प दृश्य है जहाँ भिक्षु को कमल के फूल पर विराजमान दिखाया गया है।[96] रतन थियाम ने इस दृश्य को बड़ी खूबसूरती से प्रस्तुत किया है। इस नाटक की सबसे खास बात यह है कि हमारी आँखों के ही सामने इतनी सफाई से दृश्य परिवर्तन हो जाता है कि हम अचंभे में पड़ जाते हैं कि बिना किसी आधुनिक उपकरण का सहारा लिए इतनी सादगी से दृश्य परिवर्तन कैसे हो सकता है। एक के बाद एक दृश्य इतने सुव्यवस्थित तथा सुनियोजित रूप से सामने आता है कि स्वयं को यकीन दिलाना मुश्किल-सा लगने लगता है। रतन थियाम की इस एक प्रस्तुति को जो देख ले वो यह अंदाजा लगा सकता है कि भारतीय रंगमंच के सन्दर्भ में यों ही उनका नाम नहीं लिया जाता।

[96] 'उत्तरप्रियदर्शी' की डीवीडी

लोकनाट्य परम्परा का प्रभाव

रतन थियाम की प्रस्तुति 'उत्तरप्रियदर्शी' में हमें नृत्य, संगीत, परम्परा और समकालीन कल्पना देखने को मिलती है। रतन थियाम ने अपनी प्रतिभा से परम्परा और आधुनिकता के गत्यात्मक मिश्रण को अपनी प्रस्तुति के माध्यम से हमारे सामने रखा है। इसकी शुरुआत प्रार्थना गुनगुनाने की ध्वनि से होती है। नाटक में युद्ध, विध्वंस, नरक का दृश्य और यातनाओं को भली-भाँति दिखाया गया है।[97]

पूजा-पाठ और धार्मिक अनुष्ठान मणिपुरी समाज का एक महत्त्वपूर्ण तथा अभिन्न अंग माना जाता है। मणिपुरी समाज में जन्म से मरण तक सभी संस्कारों का विधिवत पालन किया जाता है। यहाँ के लगभग सभी धार्मिक कृत्यों में संगीत, नृत्य और परम्परा की झलक मिलती है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो इसे दैनिक क्रिया से भी जोड़ा जा सकता है। नाटक की शुरुआत से लेकर अंत तक इसमें मणिपुरी संस्कृति व परम्परा को किसी-न-किसी बहाने प्रस्तुत किया गया है। मणिपुरी लोकनाट्य के अन्तर्गत मुख्य रूप से यहाँ 'लाई हराओबा', 'पुङ चोलोम', 'नट-संकीर्तन' और 'शुमाङ लीला' का प्रभाव देखने को मिलता है।[98]

---

[97] 'उत्तरप्रियदर्शी' की डीवीडी

[98] वही

चयनित नाटकों का मणिपुरी नाटक और रंगमंच पर प्रभाव

मणिपुरी रंगमंच के विकास में हिन्दी नाटकों की क्या भूमिका रही है, इस विषय में जानने के लिए मणिपुरी रंगमंच के विकास चरण को समझना अत्यंत आवश्यक है। जैसा कि हम सब इस तथ्य को जानते हैं कि साहित्य समाज का दर्पण होता है। अतः साहित्यकार की कोशिश यही रहती है कि समाज की सच्चाई को अपने लेखन के माध्यम से जन साधारण तक पहुँचाए। इसके अलावा विचारधारा का भी काफी प्रभाव पड़ता है। प्रत्येक साहित्यकार की रचना में किसी-न-किसी विचारधारा का प्रभाव अवश्य देखने को मिलता है फिर चाहे वह दुनिया के किसी भी कोने से क्यों न हो।

यदि मणिपुरी नाटक और रंगमंच की विकास यात्रा पर गौर किया जाए तो शुरुआती दौर से ही इसमें मणिपुर से बाहर की भाषा का प्रभाव देखने को मिलता है। हालांकि शुरुआत लोकनाट्य परम्परा से मानी जाती है परन्तु यदि चूराचाँद महाराज के शासनकाल पर गौर किया जाए तो सन् 1902 में 'प्रवास मिलन' नामक नाटक का ब्रिटिश प्रोसिनियम स्टेज पर पहली बार मंचन हुआ था।[99] सन् 1918 में 'पार्थ पराजय' नामक बांग्ला नाटक का मंचन हुआ जिसका अनुवाद श्रीखाइदेम नोङ्याई सिंह ने किया।[100] इसके बाद एक-एक करके कई बांग्ला

---

99 मणिपुरी शुमाङ लीला अमसुङ थिएटर, साहित्य परिषद्, पृ. 31

100 सनख्या इबोतोम्बी हाओरोकचम, मणिपुरदा थिएटर अमसुङ ड्रामा, एन. टी. एस. पब्लिकेशन्स, इम्फाल, 1987, पृ. 110, द्वितीय संस्करण, 2009 मार्च

नाटकों का मणिपुरी भाषा में मंचन हुआ। इनमें अभिमन्यु, शक्तिसेन, कौरव पराजय, कर्णार्जुन, रेजिया, टीपू सुल्तान जैसे बांग्ला नाटकों का नाम लिया जा सकता है। सन् 1925 में प्रथम मणिपुरी मौलिक नाटक 'नरसिंह' का सफल मंचन हुआ।[101] यह श्री लाइरेलमयुम इबुङोहल द्वारा रचित एक ऐतिहासिक नाटक था। प्रस्तुत नाटक में नाटककार ने राजनीतिक उथल-पुथल के चलते मणिपुरी समाज में हो रहे प्रत्यक्ष बदलाव को दिखाया है। नाटक में समाज में हो रहे अत्याचार, अनैतिकता, अस्त-व्यस्तता को भली-भाँति दिखाया गया है। नाटककार ने अपनी इस सोच को हमारे सामने रखा है कि आज़ादी पाने के लिए युद्ध का होना अनिवार्य है। गम्भीर सिंह और नरसिंह ने मणिपुर की जनता को बर्मा के दमनकारी शासन से बन्धनमुक्त करने के लिए युद्धभूमि में अहम् भूमिका निभाई।

'नरसिंह' के बाद यदि किसी मणिपुरी नाटक की बात की जाए तो लमाबम कमल की रचना 'देवयानी' का ही नाम आता है। सन् 1924 में रचित इस नाटक की कथा महाभारत के आदिपर्व से ली गई है। ब्राह्मणवादी व्यवस्था पर प्रहार करते हुए नाटककार ने देवयानी और शर्मिष्ठा के बीच टकराव को आधार बनाया है। यह नाटक तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था पर एक कटाक्ष है। समाज में चल रही वर्ण व्यवस्था और उससे जन्य बाकी समस्याओं को नाटक में व्यक्त किया गया है कि किस प्रकार ब्राह्मण वर्ग स्वयं को धर्म के ठेकेदार मानकर अपनी इच्छा अनुसार नियम बनाते हैं। इसके बाद सोरोखाइबम ललित

---

[101] सिंह जवाहर, मणिपुर : साहित्य और संस्कृति, नीलकमल प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 28

सिंह ने 'सती खोङ्नाङ' नामक नाटक की रचना की जिसका आधार तत्कालीन हिन्दू समाज की सती प्रथा था। सन् 1931 में इन्होंने हिजम इरावत के साथ मिलकर 'अरेप्प मरुप' नाटक की रचना की। इस नाटक के साथ ही मणिपुरी रंगमंच में यथार्थवाद का आगमन हुआ।

श्री ललित के बाद हिजम अङाङ्हल ने 'पोक्तबी', 'इबेम्मा', 'थाबल चोङबी', 'निमाई संन्यास' आदि नाटक लिखे। इन नाटकों का यथार्थवादी रचना और जन आंदोलन के क्षेत्र में काफी योगदान रहा। इन नाटकों के माध्यम से हिजम अङाङ्हल ने तत्कालीन समाज के दृश्य को प्रस्तुत किया है जिसके अन्तर्गत बहुविवाह, विधवा-विवाह और अनमेल विवाह शामिल है। इसके अलावा लोगों के शांतिमय जीवन पर चोरी, लूट और खून-खराबे से पड़ने वाले प्रभाव को भी दिखाया है। यहाँ सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन्होंने 1939 में लिखित अपने नाटक 'पोक्तबी' और 'इबेम्मा' के माध्यम से समाज में नारी शिक्षा के विकास की बात की है।

बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में मणिपुरी थिएटर की स्थापना शुरु हुई। सन् 1931 में मितै ड्रमेटिक यूनियन की स्थापना हुई जो आगे चलकर मणिपुर ड्रमेटिक यूनियन के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसके अलावा सन् 1935 में आर्यन थिएटर, सन् 1937 में सोसाइटी थिएटर और 1943 में रूपमहल थिएटर की स्थापना हुई। इस प्रकार धीरे-धीरे मणिपुर में नाट्य मंडलियों की स्थापना जोर

पकड़ने लगी परन्तु इनमें से मणिपुर ड्रमेटिक यूनियन, आर्यन थिएटर और रूपमहल थिएटर ने अपनी अलग ही पहचान बनाई।[102]

स्वातन्त्र्योत्तर काल में गीतचन्द्र तोङ्ब्रा के आगमन से मणिपुरी नाटक का नया युग शुरु होता है। इन्हें मणिपुर के जी. बी शॉ के नाम से भी बुलाया जाता है।[103] इन्होंने इब्सन और जॉर्ज बर्नाड शॉ के समय मूलक यथार्थवादी नाटकों से प्रेरणा लेकर मणिपुरी में दर्जनों नाटक लिखे।[104] इनके आगमन से मणिपुरी रंगमंच के रूप में परिवर्तन आया। सन् 1950-60 के दौर में इनके नाटक काफी लोकप्रिय हुए।[105] इन्होंने समसामयिक विषयों पर नाटक लिखे जिसने लोगों को अपनी ओर खींचा। ये व्यंग्यात्मक शैली में अपनी बात रखते थे। इनके नाटकों में 'लूपा सना', 'लमन खुम्बा', 'जज मशाबू जेलदा', 'जुवारदगी करी', 'इण्डियादा नम्बो थाबा', 'मणि ममौ', 'मेट्रिक पास', 'ऐगी हान्ना', 'चेङनी खुजाई', 'लूदा मी चङ्बा', 'मिस्टर डेम केयर', 'ङाबोङ खाओ', 'कक्खृब कोक्याम' आदि शामिल हैं। अपनी रचना के माध्यम से इन्होंने अन्याय, भ्रष्टाचार, धांधली, कमज़ोर वर्ग के शोषण तथा शक्ति के दुरुपयोग पर करारा कटाक्ष किया। हास्य की मधुर चाश्नी में पगे इनके पैने विषैले व्यंग्य बाणों का प्रहार इतना अचूक और

---

102 Arambam Somorendra, Manipuri Drama, Sahitya Akademi, Indian Literature, Vol. 44, No. 2 (196) (March-April, 2000) p. 35

103 Singh Robindro Irom, Manipuri Literature : A Journey to Post Independence Period

104 सिंह जवाहर, मणिपुर : साहित्य और संस्कृति, नीलकमल प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 30

105 सनख्या इबोतोम्बी हाओरोकचम, मणिपुरदा थिएटर अमसुङ ड्रामा, एन. टी. एस. पब्लिकेशन्स, इम्फाल, द्वितीय संस्करण 2009, पृ. 115

अन्तर्घाती होता कि शिकार होठों पर मुस्कान लिए आन्तरिक पीड़ा से छटपटा उठता है।[106] एक क्रान्तिकारी रचनाकार होने के नाते इन्होंने अपनी रचना में समाज, धर्म, व्यवस्था, प्रशासन, परिवार, व्यक्ति तथा आधुनिकता हर कहीं से पाखण्ड और दोगलेपन को चुनकर उस पर निशाना साधा। इन्होंने तथाकथित अभिजात्य संस्कारों तथा संकीर्ण नैतिकतावादी दृष्टिकोण पर भी अपने शब्दों के बाण से चोट की।

एम. के. विनोदिनी कृत 'अशङ्ब नोङजाबी' एक ऐसा नाटक है जो शुरुआत में एक रेडियो नाटक था परन्तु सन् 1967 में यह लिखित रूप में प्रकाशित हुआ। सन् 1960 के दौर में मणिपुरी नाटकों में महिलाओं ने कलाकार के रूप में बेशक कार्य करना शुरु कर दिया था परन्तु एक लेखिका के रूप में इनका आगमन देरी से हुआ।[107] एम. के. विनोदिनी कृत 'अशङ्ब नोङजाबी' में एक कलाकार के जीवन के द्वन्द्व को दिखाया गया है। नाटक में कलाप्रेमी गौतम और वास्तविक जीवन जीने की इच्छा रखने वाली इन्दू के विचारों में भिन्नता को दर्शाया गया है। प्रस्तुत नाटक को पढ़ने पर यह पता चलता है कि यह मोहन राकेश कृत 'आषाढ़ का एक दिन' से प्रभावित नाटक है। इन्दू और गौतम एक-दूसरे के प्रति प्रेम होने के बावजूद भी साथ न रह सके, वे दोनों नदी के दो किनारों की तरह इस पार और उस पार रह गए। गौतम और इन्दू बचपन के

---

106 सिंह जवाहर, मणिपुर : साहित्य और संस्कृति, नीलकमल प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 30

107 कोइजम शांतिबाला, थिएटर अमदि साहित्यगी वारेङ खरा, द न्यू लाईट पब्लिशर्स, 2000, पृ. 20

मित्र होने के साथ एक-दूसरे से सच्चा प्रेम करते थे। गौतम की दुनिया ही अलग थी। उसकी चाहत और इन्दू की इच्छाएँ दोनों अलग-अलग होने के कारण इनके रास्ते अलग हो गए। इन्दू को गौतम के भविष्य की चिन्ता है परन्तु गौतम अपने कला प्रेम में ऐसा मग्न है कि न जाने उसे किस चीज़ की प्रतीक्षा है। इन्दू की अभिलाषा है कि गौतम को जीवन जीने की राह मिल सके परन्तु गौतम कला के उस मार्ग पर चलना चाहता है जिसका कोई अंत नहीं। गौतम भी इन्दू को सच्चे मन से प्रेम करता था परन्तु परिस्थितियाँ कुछ ऐसी हुई कि प्रेम होने के बावजूद दोनों को अलग होना पड़ा। गौतम के एक निर्णय के चलते दोनों एक दूसरे से बिछूड़ गए। इन्दू की इच्छा थी कि समाज में गौतम की एक पहचान बने और उसका भला हो। ''भावना प्रधान कुशल कवयित्री होने के कारण श्रीमती विनोदिनी देवी कलाकार की आत्मा पीड़ा और चरम सत्य तक पहुँचने की उसकी आंतरिक यात्रा का बड़ा ही सूक्ष्म और प्रतीकात्मक चित्रण करने में सफल हुई हैं।''[108] 'आषाढ़ का एक दिन' का कालिदास भी आंतरिक द्वन्द्व के चलते मल्लिका के साथ नहीं रह पाया। दोनों ही नाटकों में आधुनिक मानव की किंकर्त्तव्यविमूढ़ता का पता चलता है। केवल इतना ही नहीं बल्कि दोनों की कथावस्तु भी बहुत कुछ एक जैसी है। सम्भवत: यह कहा जा सकता है कि एम. के. विनोदिनी कृत 'अशङ्ब नोङजाबी' पर मोहन राकेश के 'आषाढ़ का एक दिन' का प्रभाव है। वैसे भी 'आषाढ़ का एक दिन' सन् 1958 में लिखित रूप

---

[108] सिंह जवाहर, मणिपुर : साहित्य और संस्कृति, नीलकमल प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 31

में सामने आया जबकि 'अशङ्ब नोङजाबी' सन् 1967 में लिखित रूप में प्रकाशित हुआ।

'' 'एब्सर्ड' नाटक की जो नई धारा पश्चिमी साहित्य में सेम्युअल बेकेट, आइओनेस्को तथा जेनेट द्वारा प्रवाहित की गयी उसका प्रभाव पूरे विश्व के नाट्य साहित्य पर पड़ा। मणिपुरी में इसके संवाहक श्रीवीरेन बने।''[109] इन्होंने 'खोङ्चत', 'हल्लक्पा' और 'अनी' नामक तीन नाटकों की रचना की जो सन् 1973 में लिखित रूप में प्रकाशित हुए। इनकी रचनाओं में मुख्य रूप से अस्तित्ववाद का प्रभाव देखने को मिलता है। अपनी रचनाओं में इन्होंने आधुनिक मानव की नियति, उसके अकेलेपन, असुरक्षा का भाव, संत्रास, अस्तित्व संकट, अजनबीपन और 'being and nothingness' जैसे प्रश्नों को उठाया है।

अराम्बम समरेन्द्र सिंह समाज के यथार्थ तथा समस्याओं को आधार बनाकर लिखते थे।[110] इनके नाटक 'जज साहेब की इमुङ' (1973) में एक जज के परिवार के सदस्यों के विरोधाभाव को दिखाया गया है जो कि बाहर के माहौल में पले बढ़े हैं। एक तरफ उनका बेटा है जो पाश्चात्य जीवन पद्धति का हिमायती है तथा दूसरी तरफ उनकी बहू और छोटा बेटा पारम्परिक विचारधारा के समर्थक। इन्होंने मध्यम वर्गीय समाज को केन्द्र में रखकर रचना की। उनका दूसरा नाटक 'कारोबार' 1976 में प्रकाशित हुआ जिसमें यह दिखाया गया है कि

---

109 सिंह जवाहर, मणिपुर : साहित्य और संस्कृति, नीलकमल प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 31

110 Singh Robindro Irom, Manipuri Literature : A Journey to Post Independence Period, Language in India, Vol. 13:7 july 2013, p. 336

तथाकथित सभ्य कहे जाने वाले समाज की आड़ में क्या चल रहा है। किस प्रकार वर्तमान में प्यार, पवित्रता, ईमानदारी, एकता, दक्षता और परीक्षा का महत्त्व पुरानी बातें हो चुकी हैं। उनका तीसरा नाटक 'दशा' सन् 1978 में प्रकाशित हुआ जिसमें मध्यम वर्गीय परिवार का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। इनके नाटकों में परम्परा और आधुनिकता के संघर्ष तथा नए मूल्यों की तलाश देखने को मिलते हैं।[111]

1970 के बाद श्री हैसनाम कन्हाइलाल, श्री रतन थियाम, श्री सनख्या इबोतोम्बी के आगमन से मणिपुरी रंगमंच में नया परिवर्तन आया। चेखव, इब्सन, आयनेस्को, ब्रेख्त जैसे आधुनिक नाटककारों की छाप तथा इनके प्रभाव में मणिपुरी से अनूदित नाटकों का मंचन होने लगा।[112] विशेषकर हैसनाम कन्हाइलाल और रतन थियाम ने मणिपुरी रंगमंच को राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पहचान दिलाई। इनके आगमन से न केवल मणिपुरी रंगमंच के विषयवस्तु पर बदलाव आया बल्कि प्रस्तुति में भी बदलाव आया। तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों पर आधारित नाटक लिखे व प्रस्तुत किए जाने लगे। कोरल फॉर्म का प्रयोग किया जाने लगा। नाटक के पात्र प्रतीकात्मक होने लगे। जीवन की वास्तविकता और यथार्थ को प्रस्तुत किया जाने लगा। रतन थियाम और हैसनाम कन्हाइलाल ने न केवल मूल नाटकों की रचना की बल्कि इन्होंने कई

---

111 Ed. Datta Amaresh, Encyclopaedia of Indian Literature : A – Devo, Sahitya Akademi, 1987, p. 223

112 सनख्या इबोतोम्बी हाओरोक्चम, मणिपुरदा थिएटर अमसुङ ड्रामा, एन. टी. एस. पब्लिकेशन्स, इम्फाल, द्वितीय संस्करण 2000, पृ. 117

गैर–मणिपुरी नाटकों का भी मंचन किया। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि व्यावसायिक रंगमंच के दौर में भी इन्होंने अपनी परम्परा को संरक्षित रखा है। जहाँ तक सनख्या इबोतोम्बी की बात है उन्हें तो रंगमंच विरासत में मिली थी, यथा – "Theatre was present in my life from my childhood. I still remember, when I was very young, the blanket that I used to cover myself with was actually torn from a painted scenic backdrop! We used to play with ancient make-up material we'd discovered in an old make-up box. I used to play 'theatre' with my brothers. My grandfather was a theatre person. My father and uncle were well-known actors. My uncle Biramongal is still active, and is a popular actor. My father was also a very good actor. But he had to leave theatre when my mother died."[113] रंगमंच के विषय में इनके विचार कुछ इस प्रकार थे – "Theatre is also indirect education; and it should be done so that the consciousness of the audience grows in a healthy way. Theatre is for social education. The audience should grow out of production, as I grew out of my traditional performances. What is needed is a certain depth, a philosophy. Modern theatre in manipur should be able to contribute something new to the modern theatre movement in the state, the nation and even the world. This can only be realized through a proper knowledge of theatre history, different theatre movements. One should be aware of all these. If we try to do something honestly, keeping this perspective in mind ,

[113] Sanakhya Ebotombi Haorokcham, Theatre Education in Manipur, Theatre in Manipur Today, Seagull Theatre Quarterly, June/September 1997, ed. Katyal Anjum, p.91

then it is good. If we experiment without any understanding and knowledge, how can it work? Who will accept it?"[114]

मणिपुरी रंगमंच के विकास में दिल्ली के 'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।[115] 'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' के ट्रेनी और ग्रेजुएट मणिपुर आकर यहाँ आधुनिक रंगमंच के क्षेत्र में कार्य करते हैं। जाहिर सी बात है कि 'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' में उन्हें जिस प्रकार की शिक्षा और माहौल मिलता है उसके चलते उन्हें काफी कुछ सीखने को मिलता है। केवल इतना ही नहीं बल्कि उन्हें तरह-तरह के राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय रंग महोत्सव में शामिल होने का अवसर मिलता है जो उन्हें कुछ नया सीखने को प्रेरित करता है।

सन् 1968 में हैसनाम कन्हाइलाल दिल्ली के 'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' गए। रंगमंच में रुचि होने के कारण वे 'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' गए। परन्तु वहाँ पर उन्होंने केवल छः महीने की पढ़ाई ही की। उसके बाद वे मणिपुर लौटकर आ गए। उन्होंने निर्देशन का कार्य सबसे पहले सन् 1964 में 'तरेत लैमा' नामक नाटक से किया। सन् 1969 में कन्हाइलाल ने 'कलाक्षेत्र' नामक नाट्य संस्थान की स्थापना की। बादल सरकार से प्रभावित होने के कारण उन्होंने मणिपुरी रंगमंच को नई दिशा की ओर ले जाने का प्रयास किया। उन्होंने मुख्य रूप से

---

[114] Sanakhya Ebotombi Haorokcham, Theatre Education in Manipur, Theatre in Manipur Today, Seagull Theatre Quarterly, June?Sepetember 1997, Ed. Katyal Anjum, p.95

[115] सनख्या इबोतोम्बी हाओरोक्चम, मणिपुरदा थिएटर अमसुङ ड्रामा, एन. टी. एस. पब्लिकेशन्स, इम्फाल, द्वितीय संस्करण, 2000, पृ. 118

'बॉडी थिएटर' पर जोर दिया क्योंकि इनकी मूल रुचि आधुनिक प्रयोग में थी। साथ ही ये नए-नए प्रयोग करने के इच्छुक रंगकर्मी थे। केवल इतना ही नहीं बल्कि उन्हें ग्रोतोव्स्की, स्तानिस्लाव्स्की ने भी काफी प्रभावित किया।

सन् 1974 में रतन थियाम 'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' से अपनी पढ़ाई पूरी करके वापस आए। उन्होंने 'रूपराग' के लिए निर्देशन का कार्य किया और धर्मवीर भारती के गीतिनाट्य 'अंधायुग' की प्रस्तुति की। सन् 1976 में रतन थियाम द्वारा 'कोरस रेपर्टरी थिएटर' की स्थापना की गई। उन्होंने 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक', 'अंधों का हाथी', 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस', 'अंधा युग', 'उत्तरप्रियदर्शी' जैसे हिन्दी नाटकों को मणिपुरी भाषा में प्रस्तुत किया।

रतन थियाम के लिए यह कहा जा सकता है कि वे थिएटर का एक नया व्याकरण, नया शास्त्र रच रहे हैं। इसका कारण यह है कि जिस तेजी और सघन संवेदना के साथ उनकी सोच बदलती है, वह उनकी प्रस्तुति में किसी न किसी रूप में सामने आ ही जाता है। उनकी समन्वयवादी दृष्टि और परंपरागत रूपों का संरक्षण उनकी प्रस्तुति में साफ झलकती है। वे स्पष्ट कहते हैं कि 'हम पश्चिमी रंग-तकनीक को अच्छी तरह जानते हैं, अपने रंगकर्म में उसका प्रयोग भी करते हैं। लेकिन उस प्रयोग का तरीका हमारा अपना होगा। हम उसे अपना बनाकर अपने ढंग से ही इस्तेमाल करेंगे। उसका स्वाद हमारा अपना होगा।'[116] उनकी

---

[116] वागर्थ, अंक 63, 2000, पृ. 47

प्रस्तुतियों से उनके सौन्दर्यबोध और व्यापक रंगसृष्टि का अनुमान लगाया जा सकता है। उनका मानना है कि बिना परंपरा के समकालीन समझ का चलना मुश्किल है।

एस. थानिनलैमा मणिपुर की पहली ऐसी महिला है जिन्होंने 'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय', नई दिल्ली से ग्रेजुएशन उत्तीर्ण किया। इनकी नाट्य संस्थान का नाम 'खेनजोङलान' है जिसकी स्थापना वर्ष 1992 में हुई। वर्तमान में एस. थानिनलैना मणिपुर की एक सक्रिय महिला रंगकर्मी है। इनके नाटकों के केन्द्र में मुख्य रूप से समाज तथा उससे जुड़ी समास्याएँ ही होती हैं।

इस प्रकार हम मणिपुरी रंगमंच के विकासक्रम को देखते हैं तो प्रत्यक्ष रूप से यह नहीं कह सकते कि इसका विकास हिन्दी नाटक या हिन्दी रंगमंच के माध्यम से हुआ है। हालांकि यदि विचारधारा के आधार पर देखा जाए तो यह कहा जा सकता है कि अमुक कालखण्ड के दौरान अमुक विचारधारा का वर्चस्व रहा। जैसे शुरुआती दौर में तो लोकनाट्य परम्परा ही थी परन्तु धीरे-धीरे समय के साथ बदलाव आया। मणिपुर भी भारत का ही एक अंग है और इस वजह से सम्पूर्ण भारत में जिस प्रकार का समाज और विचारधाराएँ प्रचलित होंगी उसका प्रभाव यहाँ पर भी पड़ा होगा। जैसे यदि ब्राह्मणवाद और वर्ण-व्यवस्था की बात की जाए तो यह एक ऐसी समस्या है जिसमें बहुत ज़्यादा भेद-भाव दिखता है। इसी के साथ सती प्रथा जैसी बुराइयाँ भी तत्कालीन समाज में चल रही थीं जिन्हें राजा राममोहन राय और ईश्वर चन्द्र विद्यासागर जैसे समाज सुधारकों ने बदला।

इसके बाद जन आन्दोलन और यथार्थवाद को साहित्य में स्थान मिला। साथ ही समाज में चल रही बुराइयों पर भी लोगों का ध्यान गया। उसके बाद स्वातंत्र्योत्तर युग में विषयवस्तु और प्रस्तुति में परिवर्तन आए। धर्म, समाज, प्रशासन और नैतिक मूल्यों पर केन्द्रित नाटक लिखे जाने लगे। आगे चलकर विषय के केन्द्र में मानव को रखा जाने लगा। वास्तविकता और आकांक्षाओं के द्वन्द्व में उलझे व्यक्ति का संघर्ष दिखाया जाने लगा। आधुनिकता के आगमन से सबसे ज्यादा संघर्ष मध्य-वर्गीय परिवार में देखने को मिला जिसे नाटककार ने केन्द्र में भी रखा। यदि अस्तित्ववाद की बात की जाए तो सम्पूर्ण विश्व के साहित्य पर इसका प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव देखने को मिलता है।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि प्रत्येक साहित्यकार किसी-न-किसी विचारधारा और मान्यता को आधार बनाकर रचना करता है फिर चाहे वह सामाजिक, राजनीतिक या मनोवैज्ञानिक स्तर पर हो। जहाँ तक मणिपुरी नाटक और रंगमंच पर हिन्दी नाटकों के प्रभाव की बात की जाए तो प्रत्यक्ष रूप से ऐसा नहीं कहा जा सकता कि अमुक नाटक के प्रभाव में अमुक नाटक की रचना हुई है। सही मायने में मणिपुरी रंगमंच का विकास साठोत्तरी युग में ही हुआ जिसमें 'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। आज रतन थियाम जी ने मणिपुरी रंगमंच को राष्ट्रीय ही नहीं बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पहचान दिलाई है। सम्भवतः इस पर कहीं-न-कहीं तो 'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' की शिक्षा और पर्यावरण का ही प्रभाव होगा। हालांकि विषयवस्तु और भावना के

स्तर पर देखा जाए तो समय के साथ चलती विचारधाराओं का दोनों पर बराबर प्रभाव पड़ा है।

नाटक को पंचम वेद कहा जाता है। नाटक कोई पाठ्यपुस्तक मात्र नहीं है बल्कि यह एक जीवन्त अनुभव है जिसका माध्यम रंगमंच होता है। रंगमंच को उसका माध्यम मानकर ही नाटक की निजी सत्ता की खोज संभव है। नाटक पढ़ने की अपेक्षा देखने पर अधिक प्रभावित करता है। नाटककार की रंगचेतना जितनी जीवंत होगी, नाटक उतना ही प्रभावित होगा। दर्शक, रंगमंच और परिवेश को दृष्टि में रखकर ही जीवंत नाटक लिखा जा सकता है। नाटक की वस्तु और शिल्प यदि सजीव और अभिनेय हो तभी वह सार्थक कहलाता है।

नाटक और रंगमंच का आपस में गहरा संबंध होता है। नाटककार नाटक की रचना करता है परन्तु जैसे ही नाटक रंगमंच से जुड़ता है उसके साथ अभिनेता, निर्देशक, प्रकाश संयोजक, संगीत संयोजक, रूप और दृश्य सज्जाकार तथा दर्शक आदि जुड़ जाते हैं। नाटक को अभिनेता और दर्शकों से जोड़ने में

निर्देशक की बहुत ही अहम् भूमिका होती है। एक सफल निर्देशक अपनी कुशलता से नाटक के कथ्य को कलाकारों के माध्यम से दर्शकों से जोड़ता है।

विद्वानों के अनुसार, नाटककार, निर्देशक, अभिनेता और दर्शक नाटक के चार आधारस्तम्भ हैं। नाटककार नाटक की रचना करता है जिसे निर्देशक मंचित करता है, अभिनेता अपने अभिनय से उसे सजीव बनाता है और दर्शक नाटक को आत्मसात् कर उसके साथ तादात्म्य स्थापित करता है। यदि नाटक दर्शकों को प्रभावित नहीं कर पाता तो नाटक का मंचन सार्थक नहीं कहलाता है। नाटक की सफलता के लिए नाटककार और निर्देशक का पारस्परिक तालमेल होना जरुरी है। अब प्रश्न उठता है कि रंगमंच के अनुरूप नाटक लिखे जाएँ या फिर नाटक के अनुरूप रंगमंच बने? इस प्रश्न के उत्तर में एक ओर तो यह कहा जा सकता है कि नाटक के लिए रंगमंच तैयार किया जाना चाहिए। दूसरी तरफ नाटककार के लिए यह आवश्यक है कि वह रंगमंच को दृष्टि में रखते हुए नाटक की रचना करे तथा रंगमंच के लिए यह आवश्यक है कि नाटक को दृष्टि में रखकर विकास करे।

यदि मणिपुरी रंगमंच की बात की जाए तो इसकी शुरुआत धार्मिक कृत्यों से मानी जाती है। मणिपुरी समाज और संस्कृति का अध्ययन करने पर हमें इस बात का पता चलता है कि यहाँ पूजा-पाठ और धार्मिक कृत्य शुरु से ही लोगों के जीवन का अभिन्न अंग रहा है। यदि लाई हराओबा से मणिपुरी रंगमंच की उत्पत्ति मानी जाए तो इसे गलत नहीं कहा जा सकता। सन् 1470 के आसपास

मणिपुर में वैष्णव धर्म का आगमन हुआ और परिणामस्वरूप कृष्ण भक्ति का प्रचार-प्रसार हुआ। वैष्णव धर्म के आगमन से जहाँ एक ओर सांस्कृतिक बदलाव आया वहीं दूसरी ओर नट-संकीर्तन, रासलीला, गौरलीला, गोष्ठलीला आदि मणिपुरी रंगमंचीय रूप उभर कर सामने आए। आगे चलकर स्थानीय लोककथा और प्रेमकथाओं को भी विषय रूप में चुना गया और खोङ्जोम पर्व, मोइराङ पर्व जैसे रूप सामने आए। दरबार में हास परिहास के माहौल से फागी लीला, शुमाङ लीला आदि का विकास हुआ।

हालांकि बीसवीं सदी के प्रारम्भिक दौर में आधुनिक मणिपुरी रंगमंच अस्तित्व में आया परन्तु वास्तव में देखा जाय तो मणिपुरी रंगमंच ने काफी उतार चढ़ाव का सामना किया। एक वक्त ऐसा भी था जब यहाँ के लोग रंगमंच के प्रति बिल्कुल उदासीन हो गए थे। यहाँ तक कि लोगों को बुला-बुला कर थिएटर में आने का निमन्त्रण दिया जाता था। जी सी तोङ्ब्रा, हैसनाम कन्हाइलाल, रतन थियाम और सनख्या इबोतोम्बी के आगमन से मणिपुरी रंगमंच को नई चेतना और दिशा मिली। बीसवीं सदी के पहले दशक के शुरुआती वर्षों में 'मणिपुर फ्रेण्ड्स ड्रमेटिक यूनियन' के रूप में मणिपुर का पहला स्थायी थिएटर अस्तित्व में आया परन्तु आज मणिपुर में बहुत सारे थिएटर समूह हैं जो समय-समय पर अपनी प्रस्तुति के माध्यम से दर्शकों का मन मोह लेते हैं।

मणिपुर के विषय में यह कहा जाता है कि रंगमंच यहाँ के लोगों के सामुदायिक जीवन का एक अभिन्न अंग है। यह मणिपुरी समाज के लोगों की

रचनात्मक सहभागिता का महत्त्वपूर्ण सूचक है। रंगमंचीय परम्पराओं का विकास और विस्तार लोगों की सभ्यता, उनकी विश्वदृष्टि और जीवन के प्रति दृष्टिकोण में विकास को अंकित करता है। रचनात्मकता का प्रवाह, कलात्मक प्रस्तुतियों का प्राचुर्य, उनका विकास और ऊर्जा यहाँ के नागरिकों की सजीव सहभागिता का प्रतीक है। एक स्वदेशी सांस्कृतिक जीवन का क्रमिक विकास तथा अन्य सभ्यता, संस्कृति और आस-पास की दुनिया के साथ उसके पारस्परिक संबंध में लोगों की रचनात्मक ऊर्जा को प्रभावित किया। इसने विश्व के सभ्य राष्ट्रों में अपनी जगह और प्रतिष्ठा को पुनः परिभाषित किया। इस प्रकार मणिपुरी रंगमंच का इतिहास इसके सांस्कृतिक विकास, परिपक्वता और सभ्यतागत आकांक्षाओं की पूर्ति का इतिहास है।

मणिपुरी रंगमंच का अध्ययन अनिवार्य रूप से मणिपुरी लोगों के सांस्कृतिक यौवन का अध्ययन है। स्वदेशी रंगमंच परम्पराएँ बेहद प्रतिभाशाली लोगों द्वारा बनाई गई जिनकी विश्वदृष्टि अद्वितीय और विशिष्ट थी। हिन्दू धर्म के प्रभाव ने इसके सांस्कृतिक रूपों के विकास को और भी प्रोत्साहित किया। संस्कार संबंधी प्रदर्शन और धार्मिक लीलाओं की पहुँच ने मणिपुर के लोगों को सभ्य लोगों के सांस्कृतिक भूगोल में एक विशेष स्थान प्रदान किया। विभिन्न कला रूपों, लीलाओं और लौकिक प्रदर्शनों की सक्रियता ने राज्य में समृद्ध आत्मनिर्भर भौतिक जीवन और एक अधिशेष अर्थव्यवस्था की संभावना को महत्त्व प्रदान किया।

मणिपुर में पूरे वर्ष कोई-न-कोई सांस्कृतिक अनुष्ठान चलता ही रहता है जो कि यहाँ की सांस्कृतिक समृद्धि का परिचायक है। वैष्णव धर्म के आगमन से रासलीला, गोष्ठलीला जैसे रूपों का यहाँ की परंपरा में शामिल हो जाना तथा उसका विधिवत पालन करना मणिपुरी लोगों के खुले विचार तथा राष्ट्रीय सुरक्षा के विभिन्न पहलुओं और राज्य की कल्याण का समर्थन करने का द्योतक है। देवी-देवताओं को प्रसन्न करने तथा अपने पूर्वजों के लिए पूजा-पाठ, अनुष्ठान आदि का व्यवहार यहाँ के लोगों की सभ्यता के सामर्थ्य का सूचक है। रंगमंचीय प्रस्तुतियों को देखकर जीवन के प्रति इनके यकीन, आस्था और आत्मविश्वास का पता चलता है। अतः रंगमंच सचमुच कलात्मक और शुभ्र लोगों की सांस्कृतिक सहभागिता का एक वास्तविक पहलु है। पारंपरिक रंगमंच के साथ लोगों का संबंध कला के नाम पर कलात्मक गतिविधि में सहभागिता मात्र ही नहीं है। उनकी सहभागिता एक प्रकार से उनकी आस्था का प्रतीक है कि उनके पूर्वजों को स्वर्ग में स्थान मिलेगा और अनुष्ठानकर्ता को मोक्ष प्राप्ति होगी। केवल इतना ही नहीं बल्कि यदि किसी बच्चे को राधा या कृष्ण के रूप में धार्मिक नाट्य रूपों में अभिनय करने का मौका मिलता है तो यह उस बच्चे के माता-पिता और परिवार के सदस्यों के लिए बड़े ही सौभाग्य की बात मानी जाती है। रामचरितमानस और रामायण का पाठ सुनना तथा इसका ज्ञान होना व्यक्ति को मोक्ष प्राप्ति कराने में सहायक माना जाता था।

हालांकि वर्तमान समय में जबकि हर बात को वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाता है इन बातों को अंधविश्वास का नाम देकर तर्कहीन करार दिया जाएगा परन्तु तत्कालीन समय में लोगों की आस्था इनसे जुड़ी हुई थी। इन परंपरागत प्रस्तुतियों ने लोगों के आपसी संबंधों को मधुर बना रखा था। राजा और प्रजा सामूहिक यज्ञों में बिना किसी भेद-भाव के समान रूप से शामिल होते थे। हालांकि आर्थिक और सामाजिक स्थिति के आधार पर लोग वर्गों में बँट गए थे परन्तु रंगमंचीय प्रस्तुति और सांस्कृतिक सहभागिता ने इन्हें एक साथ सहेज कर रखने का प्रयास किया।

नाटक का विकास धार्मिक क्रिया-कलापों एवं प्राचीन नृत्यों के मध्य हुआ है। भारतीय संदर्भ में रंगमंच का इतिहास अति प्राचीन है। हिन्दी नाटकों को अपने विरासत में कई नाट्य परंपराएँ मिली है - पारसी रंगमंच, रासलीला, रामलीला, नौटंकी, स्वांग से जुड़े लोकमंच, संस्कृत और बांग्ला रंगमंच। पारसी रंगमंच मुख्य रूप से व्यवसाय प्रधान रंगमंच था जहाँ लोगों को आकर्षित करने के लिए तड़क-भड़क और सस्ती रुचि वाले नाटकों का सहारा लिया जाता था। यद्यपि आगाहश्र कश्मीरी, रामनारायण बेताब, नारायण प्रसाद तालिब और राधेश्याम कथावाचक जैसे लेखकों के सहयोग से पारसी थिएटर ने सामाजिक, सांस्कृतिक और राष्ट्रीय विषयों पर केन्द्रित नाटकों का भी मंचन किया।

सन् 1857 की क्रांति के परिणामस्वरूप भारतीय नवजागरण की चेतना उत्पन्न हुई। इसके अन्तर्गत राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक नवजागरण के

साथ साहित्य और कला के क्षेत्र में भी नवजागरण आई। हिन्दी रंगमंच के विकास की प्रेरणा भी इस नवजागरण के साथ काफी गहराई से जुड़ी हुई है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र यह समझ चुके थे कि नाटक के माध्यम से लोगों में जागरण फैलाया जा सकता है। अतः नाटक लेखन पर अधिक बल दिया जाने लगा। देखा जाए तो हिन्दी रंगमंच की वास्तविक शुरुआत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से मानी जानी चाहिए। भारतेन्दु से पहले सभी रंग परंपराएँ पृथक् विकसित होती दिखती है। परन्तु भारतेन्दु पर इनका पर्याप्त प्रभाव देखने को मिलता है। भारतेन्दु ने पश्चिम के कुछ तत्त्वों में संस्कृत रंगमंच, नाट्यशास्त्र और लोक प्रभाव को शामिल किया तथा इन सबके समन्वित रूप को सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक यथार्थ से जोड़कर हिन्दी रंगमंच को तैयार किया। भारतेन्दु ने नाटक के माध्यम से जिस सामाजिक यथार्थ से जोड़ने की कोशिश की, वह केवल भारतेन्दु युगीन यथार्थ नहीं है बल्कि वर्तमान का सफल प्रतिबिम्बन है। इन्होंने हास्य को हथियार बनाकर सामाजिक परिवर्तन की ओर इशारा किया।

नाटकों के क्षेत्र में भारतेन्दु के बाद प्रसाद का योगदान निर्विवाद रूप से विशिष्ट है। प्रसाद की जीवन दृष्टि में काव्यात्मक ऐतिहासिकता से जुड़ी सांस्कृतिक चेतना ने समाज को आभार देने की चेष्टा की है। प्रसाद के नाटकों में समसामयिक युग की चेतना और समस्याओं का बोध देखने को मिलता है। उन्होंने अतीत, कल्पना और इतिहास के भीतर से समसामयिक जीवन को अभिव्यक्त

किया है। प्रसाद ने जातीयता, प्रान्तीयता तथा वैयक्तिक भेदों को मिटाकर व्यापक राष्ट्रीयता का आह्वान किया है।

प्रसादोत्तर युग में समस्या प्रधान नाटक लिखे जाने लगे। इस काल के नाटकों में आधुनिकता बोध, समसामयिक त्रासदी, सामाजिक समस्या, परिवर्तन, जनसंघर्ष, व्यक्ति के अस्तित्व, अकेलेपन, कुण्ठा, मानसिक स्थिति, संबंधों में टकराव, पारिवारिक विघटन और परिस्थितियों के दबाव से मन में घुटते और खोखले होते व्यक्ति के यथार्थ को प्रस्तुत किया गया है। यह कहा जा सकता है कि आदर्श के स्थान पर यथार्थ को प्रस्तुत किया जाने लगा।

सन् 1942 में 'इप्टा' की स्थापना हुई और सन् 1944 में 'पृथ्वी थिएटर' की स्थापना हुई। नाट्य क्षेत्र में इन दोनों का योगदान उल्लेखनीय है। सन् 1952 में भारत सरकार द्वारा 'संगीत नाटक अकादमी' की नींव रखी गई और सन् 1959 में 'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' की स्थापना हुई। 'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' की स्थापना भारतीय रंगमंच के लिए एक सुखद घटना थी। निदेशक इब्राहिम अल्काजी की अपनी दृष्टि और निजी व्यक्तित्व ने 'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' को बड़ा आकार और विविधता प्रदान की। आधुनिकता के प्रभावस्वरूप नवीनता और प्रयोगात्मकता के भ्रम में नाट्य लेखन भी और रंगकर्म भी पश्चिमी रंग शैलियों और विचारों से शुरु हुआ। शेक्सपियर, ब्रेख्त, इब्सन, चेखव, मोलियर, आयनेस्को, सब पर बहुत तेजी से ध्यान गया। ग्रोतोव्स्की और स्तानिस्लाव्स्की की अभिनय शैलियाँ और उनका प्रशिक्षण ही प्रमुख हो गया।

प्रशिक्षित रंगकर्मियों के द्वारा प्रशिक्षण शिविरों और नाट्य प्रस्तुतियों ने अनेक नाट्य संस्थानों को देश में जन्म दिया। एक ओर श्रीराम सेंटर जैसी संस्थान, दूसरी ओर अनेक शैलियाँ, नाट्य संस्थाएँ, महाराष्ट्र, कलकत्ता, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, पटना, चण्डीगढ़ आदि स्थानों पर जन्मीं और सर्जनात्मक आन्दोलन की दृष्टि से निरन्तर रंगकर्म हुआ। अभियान, देशान्तर, थिएटर यूनिट, नया थिएटर, प्रयाग रंगमंच, अनामिका, जन नाट्य मंच, प्रयोग, दर्पण, रूपान्तर, मेघदूत, प्रतिध्वनि आदि अनेक संस्थानों ने हिन्दी रंगमंच की नींव मजबूत की। 1960-70 का समय वस्तुतः रंगकर्म में क्रान्ति लहर की तरह था। हिन्दी में श्रेष्ठतम नाट्य रचनाएँ इसी दौर में लिखी गईं, आगामी रंगकर्म की पीठिका इसी समय तैयार हुई और भारतीय भाषाओं ने हिन्दी रंगमंच पर नाट्यानुवाद और हिन्दी नाटक भारतीय रंगमंच पर प्रस्तुत होने लगे। परस्पर परिसंवाद, गोष्ठियों और प्रतिक्रियाओं की पहल होने लगी। इस समूची हलचल को एक स्वस्थ दिशा देने में 'नटरंग', 'रंगभारती' और 'इनैक्ट' ने तथा आगे चलकर 'छाया नट' ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। लोगों की सोच में यह बदलाव आया कि प्रस्तुतीकरण कोई खेल नहीं है बल्कि एक गंभीर दायित्व है।

हिन्दी रंगमंच ने हमें हबीब तनवीर, बी. वी. कारंत, मोहन राकेश, बंसी कौल, एम. के. रैना, अलखनन्दन, श्यामानन्द जालान, भानु भारती, प्रसन्ना, बृजमोहन शाह, राजेन्द्र नाथ, रंजीत कपूर, अमाल अल्लाना, कविता नागपाल, देवेन्द्र राज अंकुर, रतन थियाम जैसे श्रेष्ठ निर्देशक दिए हैं।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद मणिपुरी रंगमंच के इतिहास में जी सी तोङ्ब्रा का आगमन एक महत्त्वपूर्ण घटना के रूप में देखा जा सकता है। जी सी तोङ्ब्रा से पहले मणिपुरी रंगमंच पर ऐतिहासिक, पौराणिक कथाओं का वर्चस्व था परन्तु इन्होंने सन् 1940-50 के बीच मणिपुरी रंगमंच के विकास को नई दिशा प्रदान की। इनके नाटकों ने मणिपुरी नाट्य साहित्य में एक क्रान्ति ला दी। इन्होंने इब्सन और बर्नाड शॉ के समस्यामूलक यथार्थवादी नाटकों से प्रेरित होकर मणिपुरी नाटकों की रचना की। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि ये हँसी-हँसी में बड़ी से बड़ी बात कह देते थे और दर्शक को सोचने पर मजबूर कर देते थे। हास्य और व्यंग्य के माध्यम से ये जीवन के हर क्षेत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार, पाखण्ड और छल-छद्म को दर्शक के सम्मुख प्रस्तुत कर उन्हें गंभीरता से सोचने के लिए मजबूर कर देते थे।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जिन संस्थाओं ने रंग आंदोलन को आगे बढ़ाया उनमें 'रूपमहल थिएटर', 'पेराडाइज़ थिएटर', 'संगीत कला संगम', 'थिएटर मिरर', 'पिपल्स आर्ट ड्रमेटिक एसोसिएशन', 'कॉस्मोपोलिटन ड्रमेटिक यूनियन', 'कला क्षेत्र', 'अपुनबा शक्तम आर्टिस्ट एसोसिएशन', 'पान्थोइबी नाट्य मंदिर', 'एवण्ट गार्ड' और 'कोरस रेपर्टरी थिएटर' शामिल हैं। इनमें से कई संस्थाएँ तो ऐसी हैं, जो नाट्य प्रस्तुतियों के साथ-साथ नाट्य प्रशिक्षण भी कराती है।

सही मायने में देखा जाय तो मणिपुरी रंगमंच का वास्तविक विकास साठोत्तरी काल में ही हुआ। आधुनिक मणिपुरी रंगमंच को पहचान दिलाने में

हैसनाम कन्हाइलाल, रतन थियाम और सनख्या इबोतोम्बी का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इन तीनों में एक सामान्य विशेषता यह है कि ये सभी 'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' से ज्ञानार्जन करके आए थे। 'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' अपनी तरह का एक अनोखा संस्थान है। यहाँ छात्रों को अभिनय, मंच तकनीक, रंग तकनीक, रंगमंच के इतिहास, सौन्दर्यशास्त्र और प्रस्तुतियों का भरपूर ज्ञान दिया जाता है। साथ ही यहाँ पाठ्यक्रम का उद्देश्य रंगमंच कला को व्यवसाय के रूप में अपनाने के लिए छात्रों को तैयार करना है।

कन्हाइलाल ऐसे रंगकर्मी थे जिनके पास एक निश्चित राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विचारधारा थी। वे एक प्रगतिशील चिन्तन सम्पन्न रंगकर्मी थे। इनकी मूल रुचि आधुनिक प्रयोग में होने के कारण इन्होंने 'बॉडी थिएटर' पर अधिक जोर दिया। वे निरंतर प्रयोग और खोज में विश्वास रखने वाले रंगकर्मी थे।

रतन थियाम ऐसे रंगकर्मी हैं जिन्होंने मणिपुरी रंगमंच को न केवल राष्ट्रीय स्तर पर बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पहचान दिलाई। रतन थियाम की रंगदृष्टि हमें निरंतर चिन्तन, मानवीय संवेदना और आधुनिकतम सवालों की ओर ले जाती है। इनमें क्लासिक रंगमंच और आधुनिक रंगमंच का अद्‌भुत सामंजस्य है। ये कहीं किसी शैली से नहीं बँधते हैं और नए सौन्दर्यबोध, रंगकला के नए रंग-रूप के लिए हमेशा तैयार रहते हैं। रतन थियाम केवल निर्देशक ही नहीं बल्कि एक कला प्रेमी होने के कारण लेखक और चित्रकार भी हैं। इन्होंने 'सूर्य की अंतिम

किरण से सूर्य की पहली किरण तक' (सुरेन्द्र वर्मा), 'अंधों का हाथी' (शरद जोशी), 'आषाढ़ का एक दिन' (मोहन राकेश), 'लहरों के राजहंस' (मोहन राकेश), 'अंधा युग' (धर्मवीर भारती) और 'उत्तरप्रियदर्शी' (सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय') को मणिपुरी रंगमंच पर प्रस्तुत किया। इनकी प्रस्तुतियों से यह अन्दाजा लगाया जा सकता है कि वे मानव की मूल प्रवृत्तियों को, इंसानी रिश्तों को बड़ी सूक्ष्मता और गहराई से पेश करते हैं। रतन थियाम के अधिकांश नाटक युद्ध और शांति विषय पर आधारित हैं जो क्षेत्रीय, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रासंगिक है। वे जीवन, मनुष्य, समय और इतिहास को, पूर्व और पश्चिम को अपने ढंग से लेते - समझते हुए रंगकला को निरंतर परिमार्जित करते हुए चलते हैं।

मणिपुरी रंगमंच के विकास में हिन्दी नाटकों का उतना योगदान नहीं रहा जितना कि 'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' का रहा है। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है 'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' से ज्ञानार्जन कर रंगकर्मियों ने मणिपुरी रंगमंच के विकास को नई दिशा प्रदान की है और आने वाले समय में रतन थियाम जैसे रंगकर्मियों के सहयोग से काफी परिवर्तन होने बाकी हैं। रंगमंच में संभावनाएँ तो बहुत हैं परन्तु भूमण्डलीकरण और बाजारवाद के इस दौर में दर्शकों की रुचि बदलती जा रही है और वे अपनी जड़ों को भूलते जा रहे हैं।

हिन्दी

1. अग्रवाल कुँवरजी, रंगमंच : एक माध्यम, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण : 1975
2. अग्रवाल रवि, हिन्दी नाटकों में पात्र-प्रकार-निर्धारण, आशीष प्रकाशन, कानपुर, प्रथम संस्करण : 2010
3. ओझा दशरथ, हिन्दी नाटक : उद्‌भव और विकास, राजपाल एण्ड सन्स, संस्करण : 2006
4. कुमार सुधीन्द्र, हिन्दी नाटक : परम्परा और प्रयोग, संजय प्रकाशन, प्रथम संस्करण : 1998
5. कौड़ा स्वामी प्यारी, जयशंकर प्रसाद और मोहन राकेश के नाटकों में प्रतिबिम्बित युगीन समस्याएँ, सत्यम पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण : 2008
6. गार्गी बलवंत, रंगमंच, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1968
7. गुन्देचा संगीता, नाट्यादर्शन (कावालम नारायण पणिक्कर, हबीब तनवीर, रतन थियम से संवाद), वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संगीत नाटक अकादमी
8. गुप्त लाजपतराय, बीसवीं शताब्दी के हिन्दी नाटकों का समाजशास्त्रीय अध्ययन, कल्पना प्रकाशन, प्रथम संस्करण : 1974
9. गौतम विकल, हिन्दी नाटक : रंग, शिल्प दर्शन, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण : 2000
10. गौतम वीणा, हिन्दी नाटक : रंगानुशासन एवं प्रायोगिक नवोन्मेष (सन् 1947-2010), के. के. पब्लिकेशन्स, प्रथम संस्करण : 2011
11. चतुर्वेदी जगदीश, भारतीय नाटक एवं रंगमंच, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नई दिल्ली, संस्करण : 2006

12. चतुर्वेदी सीताराम, भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच, हिन्दी समिति, लखनऊ, प्रथम संस्करण : 1964
13. चातक गोविन्द, रंगमंच : कला और दृष्टि, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1976
14. चेनी रोल्डान, अनुवादक - श्री कृष्णदास, रंगमंच, हिन्दी समिति, लखनऊ, प्रथम संस्करण : 1965
15. चौहान किशन देव, प्रसाद के नाटकों में नायक की अवधारणा, स्वराज प्रकाशन, प्रथम संस्करण : 1998
16. जैन नेमिचन्द्र, रंग परम्परा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण : 1996
17. जैन नेमिचन्द्र, रंगकर्म की भाषा, श्रीराम सेंटर फॉर परफॉरमिंग आर्ट्स
18. जैन नेमिचन्द्र, रंगदर्शन, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1967
19. जैन नेमिचन्द्र, आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच
20. जोशी ज्योतिष, रंग विमर्श, नयी किताब, प्रथम संस्करण : 2011
21. झा सीताराम 'श्याम', नाटक और रंगमंच, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, प्रथम संस्करण : 1981
22. तनेजा जयदेव, आधुनिक भारतीय रंगलोक, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम संस्करण : 2006
23. तनेजा जयदेव, अंधायुग : पाठ और प्रदर्शन, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1998
24. दुबे चन्दूलाल, नाटक और रंगमंच, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1979
25. नवल हरीश, रंगमंच सन्दर्भ, विक्रम प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2005
26. नारायण नर, नटरंग विवेक, सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1981

27. पालीवाल रीतारानी, रंगमंच : नया परिदृश्य, लिपि प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1980
28. पालीवाल रीतारानी, जयशंकर प्रसाद और मोहन राकेश की रंग-दृष्टि का तुलनात्मक अध्ययन, स्वराज प्रकाशन, प्रथम संस्करण : 2009
29. भारद्वाज लक्ष्मीनारायण, रंगमंच : लोकधर्मी - नाट्यधर्मी, के. एल. पचौरी प्रकाशन, गाजियाबाद, प्रथम संस्करण : 1992
30. मलिक कुसुमलता, हिन्दी रंग आंदोलन तथा हबीब तनवीर, स्काई बुक्स इंटरनेशनल, प्रथम संस्करण : 2011
31. माली शिवराम, डॉ. सुधाकर गोकाकार, (डॉ. चन्द्रलाल दुबे अभिनंदन ग्रंथ), रंगमंच और नाटक, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1979
32. मेहता सतीश, रंगकर्म : आयाम-दर-आयाम, विकास प्रकाशन, कानपुर, प्रथम संस्करण : 2013
33. मिश्र विश्वनाथ, नाटक का रंग विधान, कुसुम प्रकाशन, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.), प्रथम संस्करण : 1993
34. योगराज, थिएटर के सरताज पृथ्वीराज, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2004
35. रघुवंश, नाट्यकला, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण : 1961
36. रंगाचार्य आद्य, अनुवादक - वर्मा शुभा, भारतीय रंगमंच, नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया, नई दिल्ली, संस्करण : 1971
37. रस्तोगी गिरीश, रंगभाषा, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1999
38. रस्तोगी गिरीश, नाटक तथा रंग परिकल्पना, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण : 1992

39. रस्तोगी गिरीश, नाट्यचिंतन और रंगदर्शन अन्तर्सम्बन्ध, किताबघर प्रकाशन, प्रथम संस्करण : 2013
40. लाल लक्ष्मीनारायण, रंगमंच देखना और जानना, सातवाहन पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1983
41. लाल लक्ष्मीनाराण, रंगमंच और नाटक की भूमिका, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण : 1965
42. वात्स्यायन कपिला, अनुवादक - उज्जमा बदी, पारम्परिक भारतीय रंगमंच : अनंत धाराएँ, नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1995
43. शर्मा परमेश्वरी, हिन्दी नाटक : वर्तमान संदर्भ, संजय प्रकाशन, प्रथम संस्करण : 2009
44. शर्मा बनवीर प्रसाद, आधुनिक हिन्दी नाटक (कथ्य, शैली और शिल्प), अनंग प्रकाशन, प्रथम संस्करण : 2001
45. शर्मा रामजन्म, स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक : 1947-1984 तक
46. सर्वदानंद, रंगमंच, श्रीराम मेहरा एण्ड कम्पनी, आगरा, प्रथम संस्करण : 1966
47. सं. पुष्कल अजीत, अग्रवाल हरीशचन्द्र; नाटक के सौ बरस, शिल्पायन प्रकाशन, संस्करण : 2004
48. सिंहल शशिभूषण, नाटक : अनुभूत जीवन की प्रखर अभिव्यक्ति, प्रवीन प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1981
49. त्रिपाठी नारायण वशिष्ठ, नाटक के रंगमंचीय प्रतिमान, जगतराम एण्ड सन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1991
50. त्रिपाठी रामसागर, भारतीय नाट्यशास्त्र और रंगमंच, अशोक प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1971 सिंह जवाहर, मणिपुर : साहित्य और संस्कृति, नीलकमल प्रकाशन, इलाहाबाद 1991

अंग्रेजी

1. A Shymsumder, Manipurgi Shumang Leela Amasung Theatre, (Imphal : Manipur Sahitya Parishad, 1980
2. Ahluwalia B.K. & Ahluwalia Shashi, Social Change in Manipur, 1st Edition : 1994.
3. Arambam Lokendra. "Folk Theatre of Meities of Manipur", in 100 years of Manipur Proscenium Arch Theatre", Commemoratiue Issue, Vol. 1, Imphal, Department of Arts & Culture, Govt. of Manipur, (Imphal 2002)
4. Arambam Somorendra, "Shumang Leela : An Introdution", Seagull Theatre Quarterly (Culcutta June / September 1997)
5. Arambam Somorendra, Indian Litrature, Sahitya Akademi, Vol. 44, No. 2 (196) (March-April, 2000) p. 33
6. Banerjee Utpal K., Indian Theatre in 21st Century, Shubhi Publications , Gurgaon, India, First Edition:2009.
7. Barucha Rustom, The Theatre of Kanhailala Pebet & Memoirs of America, Seagull Books
8. Cody Gabrielle H. Evert Sprinchorn, The Columbia Encyclopedia of modern drama, Vol. 2, Columbia University Press, 2007
9. Col. J. Shakespear, The Riligion of Manipur in Folklore, Vol. XXIV no. IV, December, Culcutta : Folklore Society, 1913
10. Datta Amaresh (Ed.), Encyclopaedia of Indian Literature : A-Devo, Sahitya Akademi, 1987
11. Datta Amaresh, The Encyclopaedia of Indian Literature (Vol. 2) (Devraj to Jyoti), Vol. 2, Sahitya Akademi, 2006
12. Don Rubin, The World Encyclopedia of Contemporary Theatre : Asia, Taylor & Francis, 2001
13. E. Nilakanta Singh, "Information" in Sri Surchand Sharma (ed.), Bhangi in Manipuri Ras Dance, (Imphal : R. B. Printing House, 1993) p. 1
14. E. Nilkanta, Aspects of Indian Culture, Imphal : Jawaharlal Nehru Manipur Dance Academy, 1982
15. Gargi Balwant, Folk Theatre of India, NSD Library.
16. Gupta Chandra Bhan, The Indian Theatre, University of Delhi, Munshiram Manoharlala Publishers Pvt. Ltd.
17. Hudson T. C., The Meitheis, Delhi : B. R. Publishing Corporation, reprint in India, 1975

18. Irom Robindro Singh, Manipuri Literature : A Journey to Post Independence Period, Language in India, Vol. 13, 7 July 2013
19. Jain Nemichandra, Asides Themes in Contemporary Theatre, National School of Drama , New Delhi, Year of Publication : 2003
20. Jain Nemichandra, Indian Theatre Tradition, Continuity and Change, NSD , New Delhi, 2nd Edition : 2005
21. Kapila Vatsyayan, Classical Indian Dance in the Literature and Arts, (New Delhi : Sangeet Natak Academy, 1968) p. 71
22. Katyal Anjum, Theatre in Manipur Today, Seagull Theatre Quarterly, Issue 14/15, June/Sep. 1997.
23. Lal Anand, The Oxford Companion to Indian Theatre.
24. Lawate Kartiki Nitin, Beyond Shame, Mark Hindi Divas with Mashaal Jalao Diye se, 13 Sep. 2013, Pune
25. Louise Lightfoot, Dance rituals of Manipur, Hong Kong : The Standers Press, 1958
26. N. Ibobi, "Manipuri Shumang Leela and Wareng makhal makha, (Imphal : N. Heramani Singh, 1986
27. N. Tombi Singh, The Vaishnav Theatre of Manipur, Thesis Submitted to Manipur University, Department of Manipuri, 1989
28. N. Tombi, Mityeng, (Imphal : Naharol Sahitya Samiti Publication, 1982)
29. Naorem Sanajaoba, Manipur Past and Present : The Heritage and Ordeals of a Civilization , Vol. 4
30. Ng. Kullachandra, Meitei Lai Haraoba, Imphal : Unique Printing networks, 1963
31. Paratt Saroj Nalini & Paratt John, the Pleasing of Gods : Meitie Lai Haraoba, (New Delhi : Vikas Publishing House Pvt. Ltd., 1997
32. Paul Rajinder, Contemporary Indian Theatre : Interviews with Playwrights and Directors, Sangeet Natak Akademi, Hope India Publications
33. R. K. Shitaljit, Raas Leela, (Imphal : Gandhi Memorial Press, 1981
34. Ray Jyotirmoy, History of Manipur, 2nd Edition : 1973
35. Sanakhya Ebotombi Haorokcham, Theatre Education in Manipur, Theatre in Manipur Today, Seagull Theatre Quarterly, June/September 1997, ed. Katyal Anjum
36. Sarangthem Bormani Singh, "Moirang Kanglairon and Shain" in Sahitya, (Imphal : Feb-May, 2001, No. 111-112
37. Sharma Dwijashekhar H., New Insight into The Glorious Heritage of Manipur.
38. Singh Ibochaoba 0., Folk Ballads of Manipur : A Study in literary Perspective, in Regional Seminar on Folk Literature in Eastern Indian Languages organised by Sahitya Academy & Manipur State Kala Akademi, (Imphal, June 17, 1990)

39. Singh Jhaljit R. K., A History of Manipuri Literature
40. Singh L. Ibungohal and Singh N. Khelchandra, Cheitharol Kumbaba, (Imphal : Sahitya Parishad, 1989
41. Singh Manihar Ch., A History of Manipuri Literature,Third Edition:2013.
42. Singh Mohendra Y., The Status of Manipur (1823-1947)
43. Singh Moirangthem Khandra, "forward" in Ng. Kullachandra (Ed), Meitei Lai Haraoba, Imphal : Unique Printing networks, 1963, reprint 1998
44. Sinha Biswajit, Choudhary Ashok K., Encyclopaedia of India Theatre : Vol. 1: Bhasa, Raj Publications, First Published in India, 2000.
45. Sorokhibam Narain Singh, "Shri Shri Gaura Leela", Paper Presented on Manipur Jagoi Seminar, Orgainised by Manipur State Kala Academi, Imphal, May 22, 1977
46. Srimad Bhagwata, Vol. II Translated by J. Sanyal, (New Delhi : Munshiram Mascharlal Pub. Pvt. Ltd. 1973
47. Varadpanda M.L., History of Indian Theatre, Abhinav Publications
48. Vatsyayan Kapila, Traditional Indian Theatre : Multiple Streams, National Book Trust , India
49. Yumnam Nirmala Devi, Growth of Modern Manipuri Theatre and its Importance in Manipuri Society, Asian Journal of Multidisciplinary Studies, Vol. 4, Issue 6, May 2016

मणिपुरी

1. ए. मीनकेतन, 'मणिपुर दा वैष्णव धर्म', मणिपुर राज्य हिन्दू सम्मेलन स्मारिका, इम्फाल, 1981
2. एल इबुङोहल तथा एन. खेलचन्द्र सिंह, चैथारोल कुम्बाबा, इम्फाल : मणिपुरी साहित्य परिषद, 1966 और शर्मा चित्रेश्वर, मणिपुर दा वैष्णव पूजा हउबा, इम्फाल : मणिपुरी साहित्य परिषद, 1987
3. कामै गाङमुमै, 'मणिपुर अमशुङ पोङ', खोङथाङ, इम्फाल, 1974
4. कोइजम शांतिबाला, थिएटर अमदि साहित्यगी वारेङ खरा, द न्यू लाईट पब्लिशर्स, 2000
5. तेलेम उपेन्द्र, मणिपुर ड्रामाटिक यूनियन : ङराङ अमसुङ ङसि, एम. डी. यू., इम्फाल (मणिपुर), फर्स्ट पब्लिश्ड 15 मार्च 2000
6. मोइराङ्थेम चन्द्र सिंह, पानथोइबी खोङगुल, (इम्फाल : मणिपुर साहित्य परिषद्, 1963), reprint 1999
7. लैमापोक्पम दामोदर, अराम्बम लोकेन्द्र, नोङथोम्बम प्रेमचंद, 100 इयर्स ऑफ मणिपुर प्रोसिनियम आर्क थिएटर, कममेमोरेटिव वॉल्यूम-1, डिपार्टमेन्ट ऑफ आर्ट एण्ड कल्चर, गोवरमेण्ट ऑफ मणिपुर, कलकत्ता, प्रथम संस्कण : 2002
8. शर्मा इबोतोन फुराइलात्पम, मितै फिजेत लैतेङ, (इम्फाल, 1990)
9. शर्मा चित्रेश्वर अरीबम, मणिपुर नट संकीर्तन विचार, भाग-2 (इम्फाल : 2002)
10. शर्मा जयन्तकुमार वि., मणिपुर थिएटर : समस्या अमसुङ तुङगी आशा (सेमिनार), मणिपुर ड्रमेटिक यूनियन, याइस्कूल पुलिस लेण्ड, इम्फाल, संस्करण, जुलाई 30 एण्ड 31, 2005
11. सनख्या इबोतोम्बी हाओरोकचम, मणिपुरदा थिएटर अमसुङ ड्रामा, एन. टी. एस. पब्लिकेशन, इम्फाल (मणिपुर), प्रथम संस्करण : 1987

12. सिंह श्यामसुन्दर अयेक्पम, मणिपुरगी शुमाङ लीला अमसुङ थिएटर, मणिपुरी साहित्य परिषद, द्वितीय संस्करण : 2014
13. सिंह श्यामसुन्दर अयेकपम, थिएटर गी वारोल, दि कल्चरल फॉरम, मणिपुर फर्स्ट पब्लिश्ड, फरवरी 1985
14. सिंह कीर्ति एम., 'रिलिजस डेवलपमेंट इन मणिपुर इन दि 18 एंड 19 सेंचुरीज, इम्फाल : मणिपुर स्टेट कला आकादमी, 1981
15. सिंह खेलचन्द्र एन., अरीब मणिपुरी साहित्यगी इतिहास
16. सिंह तोम्बी नोङमाइथेम, मणिपुरी साहित्यदा अनौबा मितयेङ अमा, वी. आइ, पब्लिकेशन, इम्फाल (मणिपुर), प्रथम संस्करण : 1985
17. सिंह नीलकान्त एलाङ्बम, 'अरीब मणिपुरगी संस्कृति अमशुङ तंत्र शास्त्र', वाखल - दूसरा लेक्चर, इम्फाल, 197
18. सिंह माङ्गोलजाओ एच, खम्बा थोइबी पुन्शीवारी, Vol. 2 (Imphal, 1981)
19. सिंह सनाहल आर. के., 'मणिपुर दा वैष्णव धर्म गी ईहउ', मणिपुर राज्य हिन्दू सम्मेलन स्मारिका, इम्फाल, 1981

Internet sources

www.answers.com

www.archive.org

www.mumbaitheatreguide.com

Newspapers and Magazines

वागर्थ, अंक 63, 2000
Outlook (magazine), June 2009

The Times of India, June 2009

The Hindu

शब्दकोश :

(हिन्दी)

1. बाहरी हरदेव, राजपाल हिन्दी शब्दकोश, संस्करण : 2011

(अंग्रेजी-हिन्दी)

1. बुल्के कामिल, अंग्रेजी हिन्दी कोश, संस्करण : 2009
2. Collins English-Hindi Dictionary, Harper India, March 2003
3. Concise Dictionary, English-English-Hindi, V&S Publishers, May 2014
4. Verma S. K., Sahai R N, Oxford English-Hindi Dictionary, Oxford, Feb. 2003

(मणिपुरी-अंग्रेजी)

1. सिंह खेलचन्द्र एन., मणिपुरी टु मणिपुरी एण्ड इंग्लिश डिक्शनरी, द्वितीय संस्करण : 2004

(अंग्रेजी-मणिपुरी)

1. शीतलजीत, फ्रेण्ड्स इंग्लिश टु मणिपुरी डिक्शनरी, 21वाँ संस्करण : 2012

मणिपुर राज्य में थिएटर समूहों की एक निर्देशिका

क्र. सं.	रंग संस्थाएँ	स्थापना	पता	निर्देशक
1.	मणिपुर ड्रमेटिक यूनियन	1931	याइस्कूल पोलिस लाइन्स, इम्फाल	ङाङ्बम श्यामकिशोर चिङाखम मयूरध्वज, सोरोखाइबम ललित, हिजम इरावत, खोमद्राम थम्बौ, अशाङबम मीनकेतन
2.	आर्यन थिएटर	1935	सगोलबंद रोड, इम्फाल	निदेशक मंडल
3.	चित्रांगदा नाट्य मंदिर	1936		एम. डी. यू. के युवा रंगकर्मी
4.	नवयुग थिएटर	1936-37	उरिपोक, इम्फाल	निदेशक मंडल
5.	सोसायटी थिएटर	1937	सेगा रोड, इम्फाल	निदेशक मंडल
6.	इम्फाल थिएटर	1938	उरिपोक, इम्फाल	निदेशक मंडल
7.	रूपमहल थिएटर	1943	वीर टीकेन्द्रजीत रोड, इम्फाल	निदेशक मंडल
8.	लाङमैदोङ ड्रमेटिक यूनियन	1943-44	लाङमैदोङ, इम्फाल	निदेशक मंडल
9.	पैराडाइस थिएटर	1944-45	वाङखै बाजार, इम्फाल	एल. किशोरजीत
10.	रॉक्सी थिएटर	1945	उरिपोक पोलेम लैकाइ, इम्फाल	निदेशक मंडल

11.	संगीत कला संगम	1958	खुराइ लम्लोङ बाजार, इम्फाल	एम. राजेन मितै
12.	थिएटर मिरर	1965	हाओबम मरक, इम्फाल	वारेप्प नबा
13.	पीपल्स आर्ट्स ड्रमेटिक एसोसिएशन	1965–66	टोप खोङ्नाङ् खोङ, इम्फाल	निदेशक मंडल
14.	कोस्मोपोलिटन ड्रमेटिक यूनियन	1968	थाङ्जम लैकाई वाङ्खे, इम्फाल	एल. दोरेन्द्र सिंह
15.	कलाक्षेत्र मणिपुर	1969	कैशामथोङ, थाङ्जम लैरक, इम्फाल	एच. कन्हाइलाल
16.	अपुन्बा शक्तम आर्टिस्ट एसोसिएशन	1969–70	थाङमैबंद लउरुङ पुरेल लैकाइ, इम्फाल	डब्ल्यू. कामिनी सिंह
17.	पानथोइबी नाट्य मंदिर	1970–71	युमनाम लैकाइ, इम्फाल	निदेशक मंडल
18.	सोशियल ड्रमेटिक यूनियन	1971–72	उरिपोक, अचोम लैकाइ, इम्फाल	रंजीत अधिकारी
19.	एवंट गार्ड	1972–73	कैशामपात, थोक्चोम लैकाइ, इम्फाल	सनख्या इबोतोम्बी
20.	मारजिङकोल कल्चरल कम ड्रमेटिक एसोसिएशन	1975–76	हैङाङ मैयाइ लैकाइ, इम्फाल	टी एच. मङाड

21.	कोरस रेपर्टरी थिएटर	1976	शामुशङ, उरिपोक, इम्फाल	रतन थियाम
22.	बनिया रेपर्टरी थिएटर	1985	वाङ्खै, निङ्थेम पुखृी मपाल, इम्फाल	एम. सूरशेन, एम. सी. थोइबा
23.	मणिपुर यूनिवर्सिटी थिएटर क्लब	1985-86	मणिपुर यूनिवर्सिटी, काँचीपुर	निदेशक मंडल
24.	थाङ्गा आर्टिस्ट एसोसिएशन	1985-86	थाङ्गा बाजार, विष्णुपुर	मिस्टर जोय
25.	मणिपुर एसेम्बल	1986	सिङ्जमै, खेत्री लैकाइ, इम्फाल	खेत्री जुगीन्द्रो
26.	एलीट ग्रुप ऑफ परफॉर्मिंग आर्टिस्ट्स	1987	सगोलबंद, लुक्राम लैरक, इम्फाल	एस. इंद्रकुमार
27.	औग्री थिएटर रेपर्टरी	1990	क्वाकैथेल, लाइश्रम लैकाइ, इम्फाल	रणवीर मङाङ
28.	डील रेपर्टरी थिएटर	1993	लीलोङ चजिङ, चिङ्खोङ लैकाइ	पी. खोगेन्द्र
29.	पाफल	1997	सेगा रोड, जेलर लेन, इम्फाल	आर. के. तोम्बीसना

अनूदित नाटकों का तथ्यात्मक विवरण

क्र.सं.	नाटका का नाम	मणिपुरी अनुवाद	लेखक	अनुवादक	निर्देशक तथा प्रस्तुति वर्ष
1.	सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक	नुमित की अरोइब मङाल दगी नुमित की अहउब मङाल फाउबा	सुरेन्द्र वर्मा	रतन थियाम तथा अरीबम कृष्णमोहन शर्मा	रतन थियाम (1975)
2.	अंधों का हाथी	मिताङ्बा गी शमू	शरद जोशी	रतन थियाम	रतन थियाम (1978)
3.	आषाढ़ का एक दिन	नोङ्म इङादा	मोहन राकेश	रतन थियाम	रतन थियाम (1980)
4.	लहरों के राजहंस	इथक्की काङा	मोहन राकेश	रतन थियाम	रतन थियाम (1980)
5.	अंधायुग	ब्लाइंड एज	धर्मवीर भारती	पुखृम्बम शमू	रतन थियाम (1983-84)
6.	उत्तरप्रियदर्शी	उत्तरप्रियदर्शी	सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'	कृष्णमोहन शर्मा	रतन थियाम (1996)

लाई हराओबा की प्रस्तुति

मणिपुरी रासलीला की प्रस्तुति

गोष्ठलीला का एक दृश्य

नट संकीर्तन की प्रस्तुति

खोङ्जोम पर्व की प्रस्तुति

मोइराङ पर्व का एक दृश्य

शुमाङ लीला की प्रस्तुति

मणिपुर के प्रसिद्ध प्रेम गाथा के खम्बा (नायक) और थोइबी (नायिका)